Chapter-1

पर्व प्रथम

जैनधर्म एवं भ.महावीरकी परम्परामें श्री आत्मानंदजी म.का स्थान

मंगलाचरण

जैनधर्म :- सामान्य परिचय एव परिभाषा

जैनधर्मके पर्यायवाची अन्य नाम :- प्ररूपकाश्रयी– आर्हत्‌धर्म, (अर्हन्‌के शब्दार्थ, लक्ष्यार्थ, निर्युक्त्यार्थ),, सैद्धान्तिकाश्रयी (द्रव्याश्रयी)–सत्‌धर्म, स्याद्वादधर्म (स्वरूप विवेचन-सप्तभगी स्वरूप), अनेकान्तधर्म (परिभाषा, स्वरूप, महत्त्व, एकान्त-अनेकान्तकी तुलना), शुद्धधर्म (पाच लक्षण) क्षेत्राश्रयी–विश्वधर्म (चौदह राजलोक याने विश्वका सचित्र परिचय-ढ़ाई द्वीप याने मनुष्यलोकका सचित्र परिचय–विख्यात महानुभावोके मतव्य) कालाश्रयी-शाश्वतधर्म (त्रिकालाबाधित अस्तित्वका कारण-जबूद्वीपका सचित्र परिचय, जैनेतर विद्वानोके अभिप्राय), भावाश्रयी-अहिसाधर्म (जैन अहिंसाका स्वरूप-उपयुक्तता), मानवधर्म (स्वरूप-'वसुधैव कुटुम्बकम्'का गुजन-'सवि जीव करु शासन रसी'की भावना); आराधकाश्रयी–निर्ग्रन्थ धर्म, श्रावकधर्म-

जैनधर्मकी शाश्वतताका स्वरूप:–(शाश्वतताके साक्षी) व्युत्पत्त्यार्थ-छ निक्षेपा (नामगत, स्थापनागत, द्रव्यगत, क्षेत्रगत, कालगत, भावगत) के आधार पर प्रमाणित शाश्वतता-षट्‌द्रव्य परिचय-त्रिपदीका स्वरूप-आगमोद्धरणोसे शाश्वतताकी सिद्धि-त्रिलोकके जीवो द्वारा आराधना स्वरूप (सोदाहरण)-कालचक्र स्वरूप (सचित्र परिचय)-कालमान (पल्योपम-सागरोपमादिका स्वरूप)-कुलकर नीति-'छ-आरा'का वर्णन–श्री ऋषभदेवकी जैनधर्म प्ररूपणा- द्वादशागी (चौदहपूर्वका) स्वरूप

जैनधर्मकी ऐतिहासिक परंपरा:–बीस विहरमान जिनेश्वर (नाम परिचय)–भरतक्षेत्रकी वर्तमान चौबीसीके चौबीस तीर्थकरोका जीवन परिचय-प्रथम तीर्थकरश्री ऋषभदेवका जीवन-चरित्र-अन्य तीर्थकरोका जीवन-चरित्र (सामान्य परिचय रूप)-चरम तीर्थपति श्री महावीर स्वामीका जीवन-चरित्र (जैनधर्मके प्रमुख दस आश्चर्य), चौबीस तीर्थकरोके जीवनवृत्तकी तालिका-प्रभुवीरके शासनमे प्रत्यनीकोका स्वरूप

भ.महावीरका शासन–(सिद्धान्त एवं व्यवहारका समन्वय):–जिनशासनके स्वर्णाक्षरी पृष्ठोके आधारस्तभ-पारलौकिक साधनापथका आलेखन-विविध रूपसे धर्माराधनाका प्रवाह–एकविध, दुविध, त्रिविध, चतुर्विध, पचविध आदि–चौदह गुणस्थानक (नाम परिचय)-सिद्धान्त संग्रह-सर्वज्ञके ज्ञानप्रवाहकी गगोत्री-लिपिबद्ध पचागी स्वरूप-जैनाचार्योकी परहिताय प्रवृत्ति-गुणीपूजाके प्रत्युत गुणपूजाका महत्त्व-समस्त ससारी जीवोके लिए पचव्रतोकी उपयोगिता

भ.महावीरकी शिष्य पट्टावलि (शिष्य परम्परा):–श्री सुधर्मा स्वामीजी (प्रथम पट्टधर) से श्री आत्मानदजी म पर्यत पट्ट परपरा (गुर्वावलि) मे प्रभावक आचार्योका अत्यन्त सक्षिप्त परिचय-श्री आत्मानदजी म के गुरुदेव श्री बुद्धिविजयजी (श्री बूटेरायजी) म सा का सक्षिप्त जीवन चरित्र परिचय–

निष्कर्ष---

श्री वीतरागाय नमः

पर्व-प्रथम

जैन धर्म - एवं भ. महावीरकी परम्परामें श्री आत्मानंदजी म. का स्थान

सर्वज्ञमीश्वरमनन्तमसङ्गमग्र

मार्वीयमस्मरमनीशमनीहमिद्ध,

सिद्धिशिवं शिवकरं करणव्यपेतं,

श्रीमज्जिनं जितरिपुं प्रयतः प्रणौमि"।

श्री भगवतीसूत्र

श्री अभदेवसूरिकृत टीका - मगलाचरण-

जैनधर्म - सामान्य परिचय एव परिभाषा :-

अनादि अनंतकालीन ससारमे चौर्यासी लाख जीवयोनिके माध्यमसे अनंत कालचक्रोंसे• और अनंत कालचक्रो तककी जीव सृष्टिमे जीव परिभ्रमण करता जा रहा है और करता जायेगा। इस व्यवहारमे जीवोको अनेक परिमंडलोसे गुजरना पडता है। तदनुसार उन निमित्तोको पाकर और अपनी आत्माके विविध भावोके कारण वह विभिन्न प्रकारके आचरण आंचरता है। यही कारण है कि तदनुसार जीव शुभाशुभ कर्मबन्ध करता है और उसे सुख-दुःखादि भावोंसे भोगता है। इन पारिणामिक निमित्तोसे होनेवाले कर्म बन्धनोसे बचाव करके, उनसे रक्षा करते हुए, उनसे अलग रहनेकी जो प्रेरणा करता है; एवं पूर्व कर्म बन्धनोंसे मुक्त होनेका - शाश्वत सुख पानेका-मार्ग दिखलाता है, वह धर्म-*जैनधर्म*-है। इसके लिए अनेक पर्यायवाची नाम प्रयुक्त हो सकते हैं-व्युत्पत्त्यार्थसे वह केवल जैन धर्म ही है ।

अन्यथा इसका स्वरूप ऐसे भी प्रकट कर सकते हैं - जो अष्ट प्रातिहार्य आदि बारह प्रमुख गुणो•से युक्त, दानातरायादि अठारह प्रमुख दोषों•से विमुक्त, चौतीस अतिशयों•से अत्यन्त शोभायमान, पैंतीस गुणोसे अलंकृत वाणीके स्वामी, चतुर्विध संघके स्थापक, त्रिलोकी जीवोसे पूजित, अनंत ज्ञान-दर्शन-चरित्र-वीर्यादि अनंत गुणोंके धारक तीर्थंकर नामकर्मके उदय प्राप्त, जितेन्द्रिय आत्मा-वे हैं *जिन - जिनेश्वर देव*[1] - और उनके द्वारा प्ररूपित धर्म है - *जैनधर्म*।

अर्थात् उपरोक्त गुणालंकृत व्यक्ति जिनेश्वर, उनसे प्ररूपितधर्म, जैनधर्म और उस प्ररूपणानुसार

उस प्रतिबोधका अनुगमक कहलाते हैं जैन।

'जिन' शब्द 'जि (जय) अर्थात् जितना-विजय पाना-धातुसे व्युत्पन्न है। राग-द्वेष-मोहादि आंतररिपुके विजयशील व्यक्तियोमे ही उपरोक्त आत्मिक गुणोका प्राकट्य होता हैं-उन्ही को 'सर्वज्ञता'[2] प्राप्त होती है। वे ही ऐसी उत्कृष्ट आत्मशुद्धिकी प्रकृष्ट साधनाका शुद्धमार्ग चिह्नित कर सकते हैं। उन्हीको अर्हन्-पारगत-अरिहंत, त्रिकालवित्-क्षीणाष्टकर्मा-परमेष्ठि-अधीश्वर-शंभु-स्वयंभु-भगवन्-जगत्प्रभु-तीर्थंकर-तीर्थकर-जिनेश्वर-स्याद्वादी-अनेकान्तवादी-अभयदः-सार्व-सर्वज्ञ-सर्वदर्शी-केवली-देवाधिदेव-बोधिदः पुरुषोत्तम-वीतराग-आप्तादि नामोसे पहचाने जाते हैं[3] और उनके द्वारा प्ररूपित प्रशस्त धर्म- *जैनधर्म*-है । उसे एक ही वाक्यमे प्रदर्शित किया है-

"मोक्ष रूप सागरमां मली जनार नदीनुं नाम ज जेनधर्म"-राजयश सूरि[4]

जेन धर्मके पर्यायवाची अन्य नाम .-

पूर्ण सचराचर ब्रह्मांडमे विभिन्न दृष्टिबिंदुओसे जैनधर्मके विभिन्न गुणवत् भिन्नभिन्न पर्यायवाची नामोंका प्रचलन हुआ है --- यथा -

प्ररूपक आश्रयी नाम --- आर्हत् धर्म,

(सैद्धान्तिक) द्रव्याश्रयी --- सत् धर्म, स्याद्वाद धर्म, अनेकान्त धर्म, शुद्ध धर्म,

क्षेत्राश्रयी नाम --- विश्व धर्म,

कालाश्रयी नाम --- शाश्वत धर्म

भावाश्रयी नाम --- अहिंसा धर्म, मानव धर्म,

आराधकाश्रयी नाम --- निर्ग्रन्थ धर्म, श्रावक धर्म ।

१. आर्हत् धर्म --- अर्हन् द्वारा उपदिष्ट वह आर्हत् धर्म । 'अर्हन्'के पर्यायवाची हैं --- 'अर्हं', 'अरिहंत' आदि। 'अर्हन्' शब्दका लक्ष्यार्थ हैं, "अभेद ज्ञान प्राप्त कर्ता" अर्थात् आत्माके सकल कर्मक्षय रुप क्षायिक भावके प्रापक; और शब्दार्थ है "भेदज्ञान प्राप्त कर्ता" याने आत्मा और देह-जो भिन्न होने पर भी क्षीर-नीरवत् अभिन्न सदृश हो गये हैं, यह ज्ञात करके, उन्हे अलग करना है, ऐसे भेदज्ञान के प्रापक; एवं अन्यार्थ है- (निश्चयार्थ) - 'राग द्वेषादि अंतरंग शत्रु हननेवाले जबकि (व्यवहारार्थ) चार धातिकर्मके सम्पूर्ण क्षय करने पर केवलज्ञान• - केवल दर्शन•के प्रापक।

'अरिहन्त' शब्द, दो शब्दोसे बनता है - अरि और हन्त । 'अरि' अर्थात् शत्रु- जो द्रव्य (वस्तु) रूप है, अत द्रव्यानुयोगका विषय है। 'हन्त' अर्थात् हनना-नाश करना जो क्रिया रूप है, अतः चरणकरणानुयोगका विषय है। अतएव प्रथम-द्रव्यानुयोगसे अंतिम-चरणकरणानुयोगोंको स्वमे समाये हुए 'अरिहत' चारो अनुयोग• निहित सम्पूर्ण श्रुतज्ञान स्वरूप ही है।

विश्वमे केवल 'अर्हन्' ही ऐसे हैं जिनका हनन नही किया जा सकता, क्योकि 'अर्हन्' सत् तत्त्व है, और जो हणाया जाता है वह तो असत् तत्त्व होता है; अतएव उन अर्हन्का आश्रित, कभी जन्म-मरणादि द्वारा हने नही जा सकते क्योंकि उन्होने भव-भ्रमणांत हेतुका अंत

कर लिया है ऐसे 'अर्हन्' - परमात्माकी शरण ली है।[५]

'अर्हन्' शब्द का परमार्थ प्रदर्शित करनेवाला श्लोक दृष्टव्य है - यथा

"अकारेण भवेद्विष्णु, रेफे ब्रह्मा व्यवस्थित ।

हकारेण हर प्रोक्तस्तस्यान्ते परमपदम् ।।३९ ।।[६]

अर्थात् 'अर्हन्' शब्दकी आदिमे जो 'अ'कार है वह विष्णुवाचक; 'र'कारमे ब्रह्मा अवस्थित; 'ह'कारसे 'हर'का कथन और 'न'कार परमपदका वाचक है । अतएव इसका परमार्थ होगा- ब्रह्मा, विष्णु, महादेव युक्त परमपद 'अर्हन्'में ही व्यवस्थित-विशिष्ट रूपसे स्थित है।

यह तो हुई सर्व-दर्शन-सम्मत परिभाषा । आगे बढते हुए आपने जैन सिद्धान्तावलम्बित अर्थ प्रकाशित करते हुए लिखा है --

"अकारादि धर्मस्य, आदि मोक्ष प्रदेशक ।

स्वरूपे परमं ज्ञानमकारस्तेन उच्यते ।।८०।।

रूपी द्रव्य स्वरूप वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।

दृष्ट लोकमलोकं वा रकारस्तेन उच्यते ।।८१।।

हता रागाश्च द्वेषाश्च, हता मोह परीषहा ।

हतानि येन कर्माणि, हकारस्तेन उच्यते ।।८२।।

सतोषेणाभि सपूर्ण प्रातिहार्याष्टकेन च ।

ज्ञात्वा पुण्य च पाप च नकारस्तेन उच्यते ।।८३।। [७]

अर्थात् सामान्यसे मोक्ष प्रदेशक परमज्ञानके स्वरूपका प्रारम्भक-आदि धर्मके प्ररूपक होने से 'अ'कार कहा। 'अ'कार का लक्ष्यार्थ- 'अक्षर'। 'अक्षर' 'अ-क्षर' रूप याने जो क्षरता-विनष्ट नही होता-ऐसा केवलज्ञान है, अथवा 'अक्षर'-यह परमात्मा प्ररूपित सम्पूर्ण श्रुत रूप द्वादशांगीको प्रकट करनेवाला आधारभूत-स्वर, व्यजंन रूप मूल, अर्थात् वर्ण ही है क्योकि अक्षर या वर्णोंका समूह ही शब्द (कर्ता-क्रियापदादि रूप) शब्दोका समूह सूत्र, सूत्र-श्लोक-वाक्योंका समूह अध्ययन, अध्ययनोका समूह (अंग-उपांगादि) आगम और आगमोका समूह है द्वादशांगी*। जैसे केवलज्ञान स्वय अ-क्षर है वैसे ही केवलज्ञानके प्रकाशसे जिसका निरूपण हुआ है वह श्रुतज्ञानका मूल स्वरूप स्वर और व्यजनरूप वर्ण-अक्षर ही कहा जाता है। अतएव केवलज्ञानाधारित प्ररूपित द्वादशागीका मूल अक्षर और उन अक्षराराधनाका फल अ-क्षर ऐसे केवलज्ञानकी प्राप्ति है।

किसीभी एक अक्षर-वर्णके उच्चारण या चिन्तवनसे न कोई विकल्प सिद्ध होता है - न किसी भावकी प्राप्ति, इसलिए निर्विकल्प केवलज्ञानकी भाँति वर्ण-अक्षरभी निर्विकल्प है, जो अपने आपमें परिपूर्ण होता है।

'अ'कार मूल है-आदि है-बीज है-केवलज्ञानका, और केवलज्ञानका बीज होनेसे केवलज्ञान ही है। आगे बढकर यह भी कहे कि-'अ'कारमे केवलज्ञान निहित है' - सत्य है ।

लोक अथवा अलोकके दृष्ट-अदृष्ट, रूपी वा अरूपी द्रव्योको ज्ञानरुप नेत्रोसे जिसने देखा

है, उसके स्वरूपको दृष्टिगत करके वर्णन करनेवाला 'र'कार उपयुक्त ही है। 'र'का लक्ष्यार्थ रूपीसेरूपी द्रव्यका और अरूपीसे रूपी-अरूपी, उभयका दर्शन करनेवाला अथवा ज्ञानचक्षु से लोकालोकके रूपी-अरूपी, दृश्यादृश्य पदार्थोका स्वरूप दृष्टिपथमें लानेवाला केवलदर्शन रूप है ।

'ह'का लक्ष्यार्थ आत्माके अतरंग शत्रु-राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, परिषहादि रूप अष्टकर्म हनन-नष्ट करनेकी क्रिया अर्थात् चारित्र; अथवा राग, द्वेष, मोह, अज्ञान परिषह स्वरूप अब्रह्मभावं-संसारभाव-अद्वैतभावको हटाना या हरानेकी क्रिया, जिससे 'चारित्र' भावकी प्रतिपत्ति होती है, अतः 'ह'कार भी उपयुक्त है।

संतोषादि सर्वगुण सम्पन्न, अष्ट प्रातिहार्य युक्त एवं पुण्य-पापादि नवतत्त्वके ज्ञात होनेसे 'न'कार कहा है। अथवा 'न'का लक्ष्यार्थ निषेधवाचक है । अत्र, 'पर'का निषेध होनेसे 'स्व' का अनुरोध आप ही सिद्ध हुआ। अर्थात् ईच्छाये, कामनाये-उनकी तडपको तपके अवलबनसे पराभूत करना। अत. ईच्छा निरोधमें पूर्णकाम-तृप्तिका अनुभव वही है तप । ससारके अनुरागी आत्मा 'कामी' कहे जाते हैं और काम है आध्यात्मिक योगका बाधक भाव; वैरागी आत्माकी संज्ञा निष्कामता-जो साधक भाव है - जबकि वीतरागी, पूर्णकाम सवरूप है, जो अंतिम सिद्धि है। अतएव नकारात्मक वृत्ति रूप शुभाशुभ- पुण्यपापवाले उदयको असत्-नाशवंत माननेकी वृत्ति-प्रवृत्ति ही तप है और उससे उद्‌भूत तृप्ति-वह निरिह भाव या निर्विकल्प भाव है। अथवा अपने आत्म-प्रदेशोसे चिपके अघातीकर्म एवं सर्व बाह्य पदार्थोका एक समान पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा होना वही निर्विकल्प भाव है - जो तपका परिफलन है।

सक्षेपमें मोक्षप्रदेशक, परमज्ञानके स्वरूपके ज्ञाता-सर्वज्ञ, लोकालोकके सर्वरूपी-अरूपी द्रव्योके ज्ञानचक्षुसे दृष्टा, राग-द्वेष-मोह-अज्ञान परिषह और अष्टकर्म के हता, नवतत्त्वादि ज्ञानदाता, संतोषादि गुण संपन्न, अष्ट प्रतिहार्य युक्त ऐसे 'अर्हन्'- परमात्मा अथवा जिनमे केवलज्ञान - केवलदर्शन-यथाख्यात चारित्र और निर्जरा रूप तपादि आत्मगुणोकी सर्वांगिण-संपूर्ण संकलना हुई है-ऐसे 'अर्हन्' परमात्मा होते हैं। और उनसे प्ररूपित धर्म *आर्हत् धर्म* कहलाता है।

(२) सत्धर्म - जो धर्म सर्वत्र-सर्वदा-सर्वके लिए विद्यमान होता है वह है सत्धर्म। सत्धर्म अर्थात् अविनाशी धर्म-जिसमे हानि-वृद्धिको अवकाश नही, जो अखंड, नूतनयोग प्राचीन वियोग (विच्छेद) रूप पर्यायो रहित होता है। जो अखिल ब्रह्मांडमे अविनाशी अविच्छिन्न-अव्याबाध रूपसे भावित किया जाता था, जा रहा है, जायेगा।

'सत्' का लक्ष्यार्थ है-त्रिपदी•के, उत्पाद-व्यय (उत्पन्न और अंतवाले) जो सादि सांत है, विनाशी है फिर भी वह सत्-उपचरित (व्यवहार) सत है; और ध्रुव-तत्त्व पिंड़प्रदेश अर्थात् नित्य द्रव्य-अनादि अनंत होनेके कारण अविनाशी है। द्रव्य और पर्याय-दोनोका द्वैतभाव मानकर इस त्रिपदीको सत् सिद्ध किया है-यथा - "उत्पाद-व्यय-ध्राव्य युक्त सत्"[१] अर्थात् कोई भी पदार्थ, द्रव्य, सिद्धान्त-इन तीनो अवस्थाओंसे गुजरता हुआ भी अपने अस्तित्वको बनाये रखता है, अतएव वह सत है।

जैन सिद्धान्त पारगामी पूर्वाचार्योंके मतानुसार धर्मभी कही अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित होता है, तो कही कालचक्रके तृतीय-चतुर्थ आरेमें प्रादुर्भूत होता है। इस तरह जनरेटरकी भाँति धर्म प्रकाश सर्वदा प्रकाश प्रदाता है। जैसे जनरेटर मंदगतिसे चलता है तब प्रकाश मद, और तेजगतिसे ,चलने पर तेज हो जाता है, वैसे ही धर्म प्ररूपक-अरिहंत परमात्माकी विद्यमानतामे धर्म-प्रकाश तेज-जाज्वल्यमान और अविद्यमानतामे मंद होता रहता है, फिरभी धर्मका स्वरूप अनवरत-अविच्छिन्न रूपसे जीवो पर निरन्तर उपकार करता रहता है एवं सकल कर्मोंसे मोक्षरूप सिद्धि गति*का लाभ कराता है। अतएव वह सत्धर्म कहा जाता है ।

(३) स्याद्वाद धर्म - स्याद्वाद दर्शन विश्वैक्य-विश्वशान्ति-विश्व संस्कृति के त्रिवेणी संगमकी महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करता है। निष्पक्ष-दुराग्रहरहित-वैचारिक उदात्तता एवं उदारता सहित-वितंडावाद मुक्त मंडनात्मक शैलीसे-संविधानात्मक पद्धति से सर्वधर्म सद्भाव सौहार्दभाव-सहिष्णुता और सदाशयता रूप प्रशस्त मार्गकी प्ररूपणा करनेवाला केवल स्याद्वाद दर्शन है; क्योंकि स्याद्वाद दर्शन सर्वांगी दर्शन है ।

सर्वांग सपूर्ण ऐसे सर्व तत्त्वोको लक्ष्य करके आंशिक-देशतत्त्वका निरूपण 'स्यात्*'के सहारे करना चाहिए, अर्थात् समसमयमे एक ही द्रव्यके सभी प्रर्याय-गुण स्वरूपादिका निरूपण केवलज्ञानी भी अपने वचनयोग (वाणी)से नही कर सकते हैं। इसलिए उसकी प्ररूपणा 'स्यात्' की सप्तभंगी के सहारे ही ठीक न्यायपुरःसर होसकती है। यही कारण है कि सर्वज्ञ भगवंतोने राग-द्वेषसे दूर शात-समभावमे स्थित करनेके लिए विश्वके जीवोंको स्याद्वाद जैसे मौलिक दर्शनकी भेट की है। इसी सत्यको गुजरातीके प्रसिद्ध साहित्यकारने अभिव्यक्ति देते हुए लिखा है-"स्याद्वाद आपनी सामे समन्वयनी दृष्टि खडी करे छे विविध दृष्टिबिन्दुना निरीक्षण विना कोईपण वस्तु सपूर्ण रूपमा समजी नथी सकाती स्याद्वाद ...आपणने विश्वनुं केवी रीते अवलोकन करवु ते शिखवे छे "[10]

'स्यात्' अर्थात् 'सर्वथा नही'-ऐसा भी नहीं और 'सबकुछ'-ऐसा भी नहीं, लेकिन विरुद्ध तत्त्वोको 'स्यात्'- 'आंशिक या कुछ' के आधार पर समन्वय करके समझना-समझाना-स्याद्वादका रहस्य है,[11] जिससे एक ही द्रव्यमे एक-अनेक, रूपी-अरूपी, जीवाजीव, सतसत्, नित्यानित्य, भेदाभेद, द्वैताद्वैत; सगुण-निर्गुण सापेक्ष-निरपेक्षादिका तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। उलझनोंको सरल-सुंदरतम-सत्य स्वरूपसे सुलझानेवाला स्याद्वाद है।

"स्याद्वाद जैन धर्मका अजेय किल्ला है, जिसमे वादी-प्रतिवादीके मायामय गोलोका प्रवेश अशक्य है।"[12]
- पं.राममिश्रजी रामानुजाचार्यजीके ये विचार इसी तथ्यको प्रस्तुत करते है।

स्याद्वाद अंधे (छद्मस्थ*)की लकड़ी या तत्त्वालोक दृश्यमान करवानेवाला बिलोरी काच - चश्मा है-अर्थात् दृष्टको दृष्टव्य बनानेवाला केवल स्याद्वाद ही है। स्याद्वाद अर्थात् गुणग्राहकता अथवा पूर्णतत्त्व स्वरूप परमात्माको दृष्टिपथ पर रखकर सर्व तात्त्विक सिद्धातो को सापेक्षतया समझना वा यथास्थित निरूपण करना स्याद्वाद है, क्योकि पूर्ण केवलज्ञानी भगवतोने अपूर्ण

ऐसे छद्मस्थोके लिए जो धर्म प्ररूपणा की है वह स्यात्-अंश रूप ही है। 'स्यात्' शब्दका प्रयोजन ही प्रायः छद्मस्थोकी अपूर्णता का परिचय करवानेके लिए हुआ है। पूर्णज्ञान - अनंतज्ञान समुद्र है तो छाद्मस्थिक ज्ञान उसके एक बिन्दु तुल्य है, क्योकि केवलज्ञान अक्रमिक-समसमयमे संपूर्ण है, जबकि छाद्मस्थिक ज्ञान क्रमिक बोध कराता है।

'स्यात्'के सहारे ही द्रव्यका सपूर्ण स्वरूप वर्णित किया जा सकता है, अन्यथा नही। क्योकि, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका या सर्व द्रव्योका कार्य नही कर सकता। एक ही सिद्धान्त समस्त विश्वके सर्व सिद्धान्तोका आवरक नही बन सकता; अतएव प्रत्येक सिद्धान्त अपने आपमे, अपने स्वभावसे परिपूर्ण होने पर भी समग्र सिद्धान्तोंके संदर्भमे 'स्यात्' ही है। विश्वके सर्व सिद्धांतोंमें, प्रत्येकमे गुण-दोषकी तरतमताके कारण सापेक्षता है, संपूर्णता कहीं भी नही है।

अपूर्णज्ञानी-महान वैज्ञानिक आइन्स्टाइनके सापेक्षवादकी भाँति, केवली प्ररूपित सापेक्षवाद अपूर्णतासे 'अपूर्णताका' नहीं, लेकिन पूर्ण-निरपेक्ष तत्त्वको लक्ष्य करके सापेक्षतासे पूर्ण-अपूर्णका तुलनात्मक अभ्यास है। विवेचनात्मक एक ही सिद्धान्त स्वरूपका 'स्यात्'के सहारे विभिन्न दृष्टि बिंदुओसे, भिन्नभिन्न सत्योका भिन्नाभिन्न स्वरूपसे ज्ञान कराना ही स्याद्वादका चमत्कार है। वस्तुके दर्शनमे भिन्नभिन्न मनुष्यो द्वारा भेद दृष्टिगत होता है, उसका कारण केवल वस्तुकी अनेकरूपता ही नहीं बल्कि उन भिन्न भिन्न मनुष्योके दृष्टिबिंदुओकी विविधता भी कारणभूत है। इसलिए कदाग्रहयुक्त एकान्तवादके विषको सर्वथा निराश करके सभीका समन्वय करनेवाला स्याद्वाद सजीवनी है-महौषधि रूप है।

स्याद्वादमे मृदुभाव है-ग्राहकभाव है-प्रेमभाव है; अतएव यह निःशंक कह सकते हैं कि खंड़नात्मक शैलीको खतम करनेके लिए ही स्याद्वादका अवतरण हुआ है। दुःखात्मक भावोको सुखात्मक स्वरूपमे पलट देनेकी कला केवल स्याद्वादके पास ही है। अंततोगत्वा "*स्याद्वाद सर्वतोमुखी दर्शन है*" [१३]

"जेन दर्शनमे स्याद्वादका स्थान इतना महत्वपूर्ण है कि जेन दर्शनको 'स्याद्वाद दर्शन'भी कह सकते हे।"[१३]

"वास्तवमे स्याद्वाद-जेन दर्शनका प्राण हे। जेनाचार्यो के सारेही दार्शनिक चिन्तनका आधार स्याद्वाद ही हे।"[१४]

स्याद्वादके भंग (प्रकार)मेसे सभी विरोधी धर्मयुगलोको लेकर सात ही भंग होते हैं। वचनादिके भेदोंकी विवक्षासे *श्री भगवती सूत्रमे* अधिक भंगोका निरूपण हुआ है लेकिन मौलिक भंग सात ही है। स्याद्वादके सिद्धान्तकी इस सप्तभंगीसे किसी भी सिद्धान्त या द्रव्यको आसानीसे अभ्यस्त किया जा सकता है। यथा -

स्यात् अस्ति --- कथंचित है-यह पदार्थ अतीतके सद्भाव से पुराना है।

स्यात् नास्ति --- कथंचित् नही है-यह पदार्थ अतीतके असद्‌भावसे पुराना नहीं है।

स्यात् अवक्तव्य --- समसमयमे अवक्तव्य-यह पदार्थ सदसद्-तदुभय-पर्यायसे समसमयमे अवक्तव्य है।

स्यात् अस्ति-नास्ति --- कथचित् है, कथंचित् नही है-यह पदार्थ अतीतके सद्‌भावसे पुराना और अतीतके असद्‌भावसे पुराना नही है।

स्यात् अस्ति अवक्तव्य --- (सद्‌भावसे) कंथचित् है, (तदुभयसे) व्यक्त नही कर सकते-यह पदार्थ अतीत सद्‌भावसे पुराना है; तदुभयसे-समसमयमे व्यक्त नही कर सकते।

स्यात् नास्ति अवक्तव्य --- (असद्‌भावसे) कथंचित नही है, (तदुभयसे) व्यक्त नहीं कर सकते हैं। यह पदार्थ अतीत असद्‌भावसे पुराना नहीं है, तदुभयसे समसमयमे व्यक्त नहीं कर सकते हैं।

स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य --- (सद्‌भावसे) कथंचित् है, (असद्‌भावसे) कथंचित् नही है, (तदुभयसे) अवक्तव्य है। यह पदार्थ अतीत सद्‌भावसे पुराना है, अतीत असद्‌भावसे पुराना नही है, तदुभय पर्यायसे अवक्तव्य है।[15]

स्याद्वाद अर्थात् माध्यस्थता-उदारता-विशालता; जिससे प्राप्त होती है वीतरागता-परिपूर्णता-जो 'जैनधर्म' के पर्यायरूपमें स्वीकृत है।

(४) अनेकान्त धर्म - जैन सिद्धान्तोकी गहराईसे अनभिज्ञ कई विद्वान अनेकान्तवादको स्याद्वादका पर्यायी मानते हैं; लेकिन दोनोके लक्ष्यार्थ भेद दृष्टव्य है-'स्यात्'की सप्तभगी के सहारे द्रव्य या सिद्धान्तोंके सत्य स्वरूपका समसमयमे अपूर्ण दर्शन करते करते सम्पूर्ण दर्शन होना अथवा द्रव्यके सपूर्ण दर्शनकी क्रमसे प्ररूपणा करना-यह स्याद्वाद है, जो 'स्यात्' के बिना अवलंबन असंभव है; जबकि विरोधी भावोका किसी न किसी अपेक्षा विशेषसे समन्वय करना या दो विरोधी धर्मोका स्वीकार समान भाव-सापेक्षरूपसे करना-- अनेकान्त है। सर्वज्ञ भगवंतके केवलज्ञानकी बिना निश्रा द्रव्यकी प्ररूपणा एकान्त है अथवा प्ररूपककी दृष्टिमात्र से ही की गई द्रव्य प्ररूपणा एकान्त है; क्योकि, हमारा ज्ञानलव छद्मस्थताके कारण उसके एक एक अंशको ही जान सकता है। सर्वज्ञके केवलज्ञानकी निश्रा पर आधारित द्रव्यकी प्ररूपणा वह अनेकान्त है, अथवा द्रव्यका सर्वांश-सर्वदेशीय निरूपण-अनेकान्त है । 'ऐसा ही है' और 'ऐसा भी है'-ईनमे 'ही' अव्ययसे प्ररूपणा एकान्त है और 'भी' अव्ययसे प्ररूपणा अनेकान्त है। एकान्त ज्ञान, प्रमाणभूत-सर्वांशी ज्ञानका आंशिक रूप है; अर्थात् *अनेकान्त रूप प्रमाणभूत संपूर्णज्ञान-वट-वृक्षकी, शाखायें ही एकान्त रूप आंशिक ज्ञान हैं।*

एक ही द्रव्यके लिए विभिन्न व्यक्तियोके भिन्न-भिन्न अभिप्राय हो सकते हैं, लेकिन वे

सभी अपूर्ण हैं। वे सभी अभिप्राय परस्पर समन्वय से सम्पूर्ण स्वरूपको स्पष्ट कर सकते हैं। जैसे समुद्रका बिन्दु समुद्र नहीं कहा जा सकता और असमुद्रभी नहीं कहा जा सकता, किंतु समुद्रका अंश ही माना जाता है, वैसे ही एकान्तिक प्रत्येक दर्शनको सर्वांगी या संपूर्ण दर्शन नही माना जा सकता। उसे अनेकान्तरूपी सर्वांगी दर्शनका अंश अवश्य माना जा सकता है। यथा - "उदधाविव मर्व सिन्धव समुद्रीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्ट यः

न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि ॥" [१६]

जैसे सर्व नदीयाँ समुद्रमे समा जाती हैं, वैसे हे प्रभु ! सर्व दृष्टियाँ (दर्शन) तुझमे समा जाती हैं। जैसे विभिन्न नदियोमे समुद्र नही दिखता वैसे उन दृष्टियोंमे आप विशेष रूंपसे नही दिखते हो।

अनेकान्त दर्शन द्रव्यके व्यापक स्वरूपके खजानेको खोलनेवाली कुंजी (चावी) तुल्य है।

अनेकान्त दृष्टिसे अवलोकते हुए आत्माकी पर्यायावस्थामे उच्छिन्नता और अनाद्यनन्त धारावस्थामे अविचछिन्नता स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होती है। आत्मा द्रव्यरूपसे अनादि-अनंत, अनुत्पन्न-अविनाशी होनेसे उसकी नित्यता निःशंक है, लेकिन उसे 'कूट-नित्य' नही कह सकते, क्योंकि जन्म मरणादि अवस्थाओमे बाह्याभ्यतर परिवर्तनों के कारण आत्मा अनित्य भी है। इससे उसे एकान्तिक नित्य या अनित्य मानना भ्रम है-गलती है। अनेकान्तसे उसे सापेक्ष-नित्यानित्य मानना ही योग्य एवं उचित है। 'मोक्ष'-एकान्तिक-अद्वैत स्वरूप है, लेकिन मोक्षमार्गकी साधना अनेकान्त दृष्टिसे अनेकमार्गीय है। यही कारण है कि सिद्धोंके जो पंद्रह प्रकार बताये गये हैं उनमें एक भेद है 'अन्यलिंग सिद्ध' अर्थात् जैनेतर व्यक्ति भी आत्मा पर लगे अष्टकर्मके संपूर्ण क्षय करने पर सिद्धगतिका स्वामी बन सकता है-यथा - "गिहिलिंग सिद्धभरहो, वक्कलचीरीय अन्नलिगम्मि-" [१७]

"सेयवंरो य आसंवरो य बुद्धो वा तहय अन्नो वा ।

समभाव भावी अप्पा लहई मुक्ख न संदेहो ॥" [१८]

ऐसे ही सर्व पदार्थोमे भिन्नाभिन्न, भेदाभेद, नित्यानित्य, सदसदादि विरोधाभास एक साथ समान रूपसे दृष्टव्य बन जाते है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि जिसके अनेक अंत है वह अनेकान्त है, अर्थात् एक ही उद्गम या उद्भवित द्रव्यको विभिन्न दृष्टिबिंदु रूप अतोसे जानना वह अनेकान्त है। अतएव अनेकान्तसे सर्व क्लेश-कलह, वाद-विवाद-वितंडावाद आदिका अपने आप शमन हो सकता है।

कदाग्रह या दुराग्रह युक्त एकान्त एक बडा भारी पाप है-मिथ्यात्व है। वह हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म सेवन या परिग्रहसे भी बडा भारी पाप इसलिए माना जाता है कि इन पाँच पापोमे अधर्म बुद्धि मानता हुआ जीव उससे डरकर दूर रहता है या उनमे सुधार करनेको उद्यमवंत बना रहता है, लेकिन दुष्ट एकान्त-दृष्टि तो धर्मका चश्मा पहनकर जीव को अध या विपरित दृष्टा बना देती है, जिससे आत्म स्वरूप और हिताहितका विवेक नष्ट हो जाता है।

अन्य पाप व्याघ्र है तो एकान्त दृष्टि गोमुख व्याघ्र है, जो है तो क्रूर, लेकिन गोमुखके कारण पहचानना अत्यन्त मुश्किल है। यही कारण है कि जैन दर्शनने इतनी सतर्कता रखी है कि यह अनेकान्तभी कहीं-कभी एकान्त न बन जाय।

"अनेकान्तोऽप्यनेकान्त , प्रमाण नय साधन ।
अनेकान्त प्रमाणात्ते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्" ।। [19]

अर्थात् प्रमाण और नयको साधनेवाला अनेकान्त-प्रमाण दृष्टिसे अनेकान्त है और वही नय दृष्टिसे एकान्त बक्षता है। अतएव सदेकान्त भी उपयोगी है। सतर्कता यह रखनी चाहिए कि यह सदेकान्त कही (हठाग्रहसे) असदेकान्त न बन जाय।

असदेकान्ताधारित धर्म-आशिक सत्य व अपूर्ण शुद्धताको लेकर असर्वज्ञोकी प्ररूपणा का फल है - "णियय वयणिज्ज सच्चा सव्व नया परवियालणे मोहा ।
तं उण ण दिट्ठ समओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ।।" [20]

अर्थात् स्वयंके वचनोमे सत्य स्थापित करना-यह नयराशिका संग्रह है याने विविध मतोका संग्रह है, लेकिन परमतका उन्मूलन करना वह मोह है-जो मिथ्याज्ञान है। क्योंकि इससे अन्य का सत्य सिद्धान्त उन्मूलन होने की शक्यता नही है। उसके अभावमें स्व सिद्धान्त स्थापित नहीहो सकता। इसके अतिरिक्त प्रमाणाभावमें वे नयराशि परके और स्वके सिद्धान्तकी सत्यता या असत्यताका विभाजन (निर्णय) नही कर सकते हैं।

एकान्त जब अन्य दृष्टिबिदुओका विरोधी बन जाता है-केवल खंडन ही करता है, तो वह असत् रूप है; लेकिन अन्य सिद्धान्त-दृष्टियोका विरोधी न बनते हुए, पर दृष्टिका खंडन करके स्व सिद्धान्तका मडन-स्थापन करना सदेकान्त है, जो उपादेय भी है। संसारमें जितने वचन प्रकार-जितने दर्शन एवं नाना मतवाद हो सकते है उतने ही नयवाद हो सकते हैं। उन सबका उदार समन्वय ही अनेकान्तवाद है । - यथा

"जावइया वयणवहा, तावइया चेव होन्ति णयवाया ।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ।।" [21]

अनेकान्तवाद दृष्टिकोणमे कायरता या पलायनता नहीं हैं, लेकिन मनोवैज्ञानिक निष्पक्षता निहित है, जो जैन धर्मकी विजय वैजयन्ती लहरा रहा है। अनेकान्तवादमे पारस्परिक विरोध लुप्त होकर किंमती वैडूर्यमणिके रत्नावलि हारकी भाँति, सभी नयवाद एक-सूत्रबद्ध होकर शोभायमान बन जाते हैं।

यही कारण है कि वर्तमानमें अनेकान्त सिद्धान्ताश्रयी जैन दर्शनका, अनेकान्त दर्शन और अनेकान्त धर्म, पर्यायी माना जाने लगा है। अतएव अत्यन्त उदार, व्यापक, एवं व्यवस्थित विचारपूर्ण अनेकान्त दर्शनकी व्यावहारिक उपयोगिता ही जैनधर्म है । मानो जैनधर्म अनेकान्त सिद्धान्त स्वरूप है और अनेकान्त सिद्धान्त ही जैन धर्म है। अथवा *अनेकान्त-जैनधर्मकी आत्मा है*- यथा - "अनेकान्त दर्शन एटले नय अने प्रमाणोनो मेळ . ... विचारवानी पद्धति जैन दर्शनमा एक

छे अने ते पद्धति अनेकान्तवादनी । आ ज कारणथी अनेकान्त ज जैनतत्त्वनो आत्मा छे." [२२] ।

(५) **शुद्धधर्म** --- धर्मास्तिकाय*, अधर्मास्तिकाय* और आकाशास्तिकाय* अरूपी द्रव्य है और जीव भी अरूपी है; अंतर केवल इतना है कि एक उत्तर-दूसरा दक्षिण-अर्थात् प्रथम तीन जड़ अरूपी हैं और जीव चैतन्य अरूपी। जीव शुद्ध तत्त्व स्वरूप है। नित्यावस्थाको प्राप्त, कर्मरहित जीवकी अवस्था ही शुद्धावस्था और सिद्धावस्था कहलाती है। इस शुद्धावस्थाकी प्राप्ति शुद्ध धर्मसे ही शक्य है। जीवको पूर्ण शुद्ध बनानेके लिए पंचमहाव्रता*दि पालनरूप चरणकरणानुयोगमे जिन अनुष्ठानोके स्वरूपको निरूपित किया गया है, वही आगमदृष्ट, सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म-शुद्ध धर्म है। "*सर्वांगिण सत्य है जहाँ, शुद्ध धर्म भी है वहाँ*" उक्त्यानुसार शुद्ध धर्मकी नीव एवं गति-प्रगतिका आधार केवल सर्वांगिण सत्य ही है, जिसकी प्ररूपणा केवलज्ञानीके अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं कर सकता है। क्योंकि, मोहादि दोषोंसे पराङ्मुख केवली-वीतरागी-शुद्ध आत्मा ही उस शुद्धावस्था प्राप्त करानेवाले मोक्ष मार्गकी प्ररूपणा करके शुद्ध स्वरूप प्रकट करवा सकती है।

जिस धर्ममें 'याज्ञिकी हिंसा'को धर्म माना हो अथवा जिसमे आत्माका अस्तित्व ही क्षणिक माना हो या जहाँ वैभव विलास और भोगासक्तिमे डूबना ही धर्म माना हो-उन धर्मोंको धर्म मानना कहाँ तक उचित होगा ? अन्यके प्राणोका हनन या पर प्राण पीडन वा अनाचारोंके सेवनको अगर धर्म मानेगे तो अधर्म कहाँ जाकर स्थान पायेगा ? सत्य तो यह है कि धर्म, जीवमात्रको शांति-संतोष-सुख प्रदान करें। जीवको हिंसा या विलासितादि अशुभ भावोंसे अशुभ कर्मबंध होता है; प्रत्युत जीवदया-अहिंसादि पंचमहाव्रतादि युक्त तपोमय जीवनसे शुभ भाव उदीयमान होते है, जो वृद्धिंगत होते होते शुद्ध भावमें परिणत हो जाते हैं और जिससे पुण्यानुबंधी* पुण्य प्राप्ति होते हुए अंतमें निर्जरासे* सर्व कर्मक्षय होनेसे आत्मा सिद्ध-मुक्त हो जाती है । ऐसे धर्मके पाँच लक्षण माने गए हैं -

१. व्यवहार शुद्धि - (शुद्ध परिणामोकी पूर्णता), २. विचार शुद्धि (मोक्ष प्राप्तिकी तीव्रतम अभिलाषा) ३. अंतःकरण शुद्धि - (निष्कपट भावोंकी चरमसीमा) ४.साधन शुद्धि- (उत्तरोत्तर ध्यान धाराकी सहज सिद्धता) ५. लक्ष्य सिद्धि - (केवल मोक्ष प्राप्तिका ही लक्ष्य)

अतएव आत्माको महात्मा और महात्मासे परमात्मा-पूर्णात्मा-शुद्धात्मा बनानेमें पथ प्रदर्शक एवं सहायक धर्म ही शुद्धधर्म-जैनधर्म है ।

(६) **विश्वधर्म** - उर्ध्वलोक (स्वर्गलोक), अधोलोक (नरकलोक) एवं मध्यलोक (तिर्च्छालोक) के एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय*, सूक्ष्म से बादर* तक, चारों गति-देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकके सकल जीवोंको कल्याणकारी, हितकारी, उपकारी ऐसे धर्मका स्वरूप जिसमें निहित है; चराचर स्वरूप चौदह राजलोकके सर्व जीवोका उपादेय, सर्वत्र व्याप्त धर्म-विश्वधर्म है -

"शिवमस्तु सर्वजगतः परहित निरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषा प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकाः ।।" [२३]

"समस्त विश्वका कल्याण हों, सर्व जीव परस्पर परहितमें रत हो, विश्वके सर्वदोष, विघ्न, पाप, अशुभ भाव नष्ट होकर समग्र विश्व-चौदह राजलोक•-के जीव सुखी बने।"

ऐसी उत्तमोत्तम भावनायुक्त विश्वधर्म, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, तत्त्वज्ञान, धर्मादि विभिन्न दृष्टि बिंदुओंसे भिन्नभिन्न विद्वानो द्वारा वर्णित मंतव्यों से वर्तमानकालीन अपनी उपादेयताको प्रमाणित करता हुआ दृष्टव्य है-यथा -

१. जैनधर्मने विश्वको उर्ध्वगामी अहिंसाके तत्त्वज्ञानकी भेंट दी है। जैन धर्म उसके अहिंसाके तत्त्वज्ञानके कारण विश्वधर्म बनने योग्य है - डॉ. राजेन्द्र प्रसादजी

२. प्राचीन ईजिप्तका लाखो वर्ष पुराना माने जानेवाला धर्म, जैन धर्मसे अत्यधिक साम्य रखता था - डॉ. रोबर्ट चर्चवेल[२४]

३. हाँ जैन धर्म ही विश्वका सत्य धर्म है। समग्र मानव जातिका सर्व प्रथम श्रद्धान् योग्य धर्म-जैनधर्म है। - रेव. ए. जे डुबोइस[२५]

४ "अगर संपूर्ण विश्व जैन होता तो सचमुच, विश्व अधिक सुंदर होता ।" - डॉ. मोराइस ब्लूम फिल्ड[२६]

अत्र क्षेत्राश्रयी दृष्टिबिंदुसे निरीक्षण करे तो हमे ज्ञात होगा कि जैनधर्म एवं जैन सिद्धांत सारे विश्वमे प्रसारित एवं प्रचलित है, अतीतमें भी थे। इतिहास बोलता है कि -

i. महान सम्राट, विश्व विजेता सिकंदर, भारतीय संस्कृतिको अपने साथ ले जाना चाहता था। उसने जैन साधुको पसंद किया और उन्हें ग्रीस ले जाकर जैन धर्मका प्रचार करवाया।

ii. माना जाता है कि आज भी एथेन्समें जैन श्रमण-साधु भगवतकी समाधि बनी हुई है।

iii. सिलोनमे भी गुफाओमे स्थित प्रतिकृतियोके दर्शनसे वहाँ जैन धर्मका प्रचार सिद्ध होता है ।

iv. एमेझोन नदीके किनारेकी एक गुफामे से प्राप्त हुई भगवान श्री प्राश्र्वनाथजीकी भव्य प्रतिमा आजभी रोमके एक संग्रहस्थानमें बिराजमान है।

जैन भूगोलानुसार ढाईद्वीप•के पन्द्रह क्षेत्रोंके (पांच भरत, पाच ऐरवत, पाँच महाविदेह क्षेत्र) सभी आर्य क्षेत्रों•मे जैन धर्मका प्रचार-प्रसार था, है और होगा भी। इसी बातको प्रतिध्वनित करते है मेजर जन फरलोंगके शब्द - It is impossible to know the begining of Jainism अर्थात् प्रारम्भ है ही नहीं अतएव जैनधर्म शाश्वत है।

(७) शाश्वतधर्म - (अनादि धर्म) - जो अनंत कालचक्रोंकी अनत चौबीसीमे हुए और अनंत कालचक्रो तक अनत चौबीसीमे होनेवाले महापुण्यवत तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित धर्म, काल प्रवाहकी अपेक्षासे, शाश्वत धर्म है। जंबूद्वीपके भरतक्षेत्रकी सांप्रत चौबीसीके अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीजी आदिने उसी धर्मकी प्ररूपणा की, जिसका निरूपण प्रथम तीर्थपति श्री

ऋषभदेवने किया था। भगवान श्री आदिनाथजीने वही प्रकाशित किया जो अतीत चौबीसीके प्रथम तीर्थंकर श्री केवलज्ञानीसे लेकर अंतिम तीर्थंकर श्री संप्रतिनाथने प्रतिबोधित किया था। उससे भी दृष्टि विस्तृत करे तो अतीतकालकी अनंत चौबीसीके अनंत तीर्थंकरोने उद्‌घोषित किया था और अनागतकालकी अनंत चौबीसीके तीर्थपति श्री पद्मनाभादि अनंत तीर्थंकर उन्हीं सिद्धांतोंको प्रस्तुत करेंगे जिन्हें वर्तमानमें 'जैन-सिद्धांत, जैन-दर्शन या जैन-धर्म' संज्ञा प्राप्त है।

इसको प्रतिपादित करनेवाले संदर्भ आगमादि शास्त्रोमें स्थान स्थान पर मिलते हैं। लेकिन जैन धर्मकी प्राचीनता एवं शाश्वतताको आज जैन-जैनेतर, पौर्वात्य-पाश्चात्य सर्व प्राज्ञ मनीषियोंने स्वीकृति दी है। यथा-संविज्ञ शाखीय आद्याचार्य श्रीमद्विजयानंद सुरीश्वरजी महाराजजीको लिखे एक पत्रमें परिव्राजकाचार्य स्वामी योगजीवानंदजीका अभिप्राय-"आजतो मै आपके पास इतना ही स्वीकार कर सकता हूं कि प्राचीन धर्म-परम धर्म, जो कोई सच्चा धर्म हे तो वह जैनधर्म हे. . .वेदमे जो बाते कही हे, वे सभी जैन शास्त्रोंमे से नमूना रूप एकत्र की हुई हे।"

इससे एक कदम आगे - "जैनधर्मका प्रारम्भ कब से हुआ हे यह जानना असंभव हे [२७]

अर्थात् ध्वन्यार्थ यही निकलेगा कि जैनधर्म शाश्वत है। इन्हीं भावोको अभिव्यक्ति इन शब्दोमें भी दी गई है - Jainism began when the world began [28] अर्थात् विश्व अनादि-अनंत भावरूप है वैसे ही जैन धर्म भी उन्हीं शाश्वत भावरूप हैं।

इस तरह विद्वज्जगतमे यह बात निर्विवाद सर्व स्वीकार्य हो गई है कि प्राग् ऐतिहासिक कालमे भी अर्थात् अत्यंत प्राचीनतम कालमें भी जैनधर्म था।

अतएव शाश्वत-धर्म-अनादि-धर्म जैनधर्मका पर्यायवाची मानना उपयुक्त ही है।

(८) अहिंसा धर्म- "सव्वे जीवा पियाउया, सुहसाया, दुक्ख पडिकूला, अप्पिय वहा, पिय जीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पिय (तम्हा) णातिवाएज्जा किचणं" - [२९]

द्वादशांगीके प्रथम-आचारांगमे उपरोक्त फरमान किया गया है कि प्राणीमात्रको स्वप्राण प्रिय होते हैं। कोई भी जीव मृत्युको कतई पसंद नहीं करता। यहाँ तक कि, कोईभी कष्ट-दुःख या आधि-व्याधि-उपाधि भी नहीं चांहता। ऐसेमे कोई व्यक्ति अगर किसीकी जान लेता है-मरणांत कष्ट पहुँचाता है-त्रस्त वा संतप्त बनानेवाली कोईभी प्रवृत्ति मन-वचन कायासे करता है तब वह अनीच्छनीय एवं अयोग्य कार्य करता है। ऐसी प्रवृत्तियाँ ही हिंसाका स्वरूप है। अतएव प्राणीमात्रका त्रियोग-मन, वचन, काय योग-से रक्षण करनेकी वृत्ति और प्रवृत्ति अहिंसा कहलाती है। अहिंसाके स्वरूपको व्यापक रूपसे अवलोकित किया जाय तो उसके तीन भेद दृष्टिगत होते है-उत्तम-मध्यम-अधम अथवा निष्कृष्ट-

i. केवल कायासे किसीको न मारना - यह *निकृष्ट अथवा सामान्य* स्वरूप है।

ii. काया और वचन योगसे व्याघात न पहुँचाना यह अहिसाका *मध्यम* स्वरूप है।

iii. मन-वचन-काया त्रिविध त्रिविध* अहिंसा पालन करते हुए जीव मात्रके साथ प्रेम

और मैत्रीभावका स्रोत बहाना, यह अहिंसाका *उत्तम* स्वरूप है। अर्थात् *'अप्पा सो परमप्पा* आत्मवत् सर्व प्राणी जगतको देखना-समझना-वर्ताव करना। कहा भी जाता है कि- *"आत्मन-प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"* अर्थात् स्वको जो कार्य प्रतिकूल लगे वैसा आचरण 'पर'-अन्यके प्रति न आचरणा चाहिए क्योंकि उस व्यक्ति (जीव)को भी वह आचरण प्रतिकूल ही संभवित हो सकता है।

इसी तथ्यको कुछ भिन्न दृष्टिबिंदुसे महान पूर्वाचार्य श्री उमास्वातिजी म.सा.ने निरूपित किया है-यथा - "प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपण हिंसा"[30]-- अर्थात् प्रमाद वा रागादि दोषोसें अभिभूत परके-अन्यके प्राणोका जाने-अनजाने घात करना-हिंसा है। अतएव त्रिविध प्रयत्नके साथ जीवोंके द्रव्य व भाव प्राणोकी रक्षा रूप अहिंसाकी परिपालना प्ररूपक, अहिंसाको ही जिस धर्ममें सर्वेसर्वा-सर्वोत्कृट-परमधर्म माना है वह है अहिंसा धर्म अथवा वास्तवमें क्रोधादि मनोगत परिणामसे आत्माके सदसद् विवेकादि गुणोके घात रूप भाव हिंसा ही हिंसा है। अंतरके बिना मारनेके भावकी (जीव हननरूप) आकस्मिक-कोरी द्रव्यहिंसा प्रायः अल्प कर्मबंधका कारण बनती है, क्योंकि समस्त निबिड कर्मबंधका पूर्णतया आधार 'भाव' परही निर्भर होता है। ऐसा न मानने पर समस्त जीवन व्यापार-सर्व क्रिया कलाप ठप हो जानेकी पूरी सभावना उपस्थित हो जायगी। हम साँस तक लेने के लिए असमर्थ हो जायेंगे-वायुकायके जीवोकी रक्षा जो करनी है। अतएव भावहिंसा ही द्रव्यहिंसाका अधिकरण और भाव अहिंसा ही द्रव्य अहिंसाका उपकरण बनती है।

जैन धर्ममे अहिंसाका अत्यन्त विशाल स्वरूप प्रस्तुत हुआ है। स्व-प्राणघातक परभी करुणा बरसाना यह "जैन अहिंसा" की देन है। आप मरकर अन्यको जीवनदान देनेके लिए तत्पर रहनेके सिद्धान्तके पक्षपाती-सच्चे अहिंसक-मेतार्यमुनि*-आदि जैसे अनेको उदाहरण जैन इतिहासमें स्वर्णाक्षरोसे अंकित है। इस तरह व्यापक एवं मुख्य रूपसे अहिंसाको ही प्रधानता देनेवाला जैनधर्म-पर्यायनाम 'अहिंसा धर्म' से प्रचलित हों, उसमें आश्चर्य क्या ? साम्प्रत जगतमे अनेक विद्वानोंने अपने हार्दिक उद्‌गार इसी भावको लेकर प्रकट किये हैं -

(१.) जैन धर्ममे अहिंसा का स्थान - "अत्यारे अस्तित्व धरावता धर्मोमां जैन धर्म एक एवो धर्म छे, जेमां अहिंसानो क्रम मपूर्ण छे" [31] (२.) "जैनोका यह फर्ज है कि वे समस्त विश्वमे अहिंसा धर्म फैलाये।" [32] (३.) एलेकझांडर गोर्डन के शब्दों पर गौर करें - "Such is the foundation of Jaina religion and to its true fallowers no morality, no religion, his highest than the Precepts of Ahinsa, there fore, they rightly lotlion to be absolute beliver in Universal Brotherhood of all living being."[33].- इससे झलकती है जैन धर्मकी गौरवगाथा।

(९) **मानवधर्म** - आज मानव-मानव नही रहा। यो तो कहनेकेलिए मानव हैं, कार्यसे दानवसे भी निष्कृष्ट। मानवकी वृत्ति एवं प्रवृत्ति दोनो ही, दानवताके चूंबकीय क्षेत्रकी ओर मानो लोहेकी तरह जबरन खिंची चली जा रही है। दानवीय वा पाशवीय प्रकृति एवं प्रवृत्ति रूप

चिकनी एवं मसृण ढ़लान पर उसकी मनोवृत्तियाँ मचल रही हैं-फिसल रही हैं। उस हेवानियतसे बचानेके लिए - उसे ऊपर उठाने के लिए-उस मानवीय वृत्तियों को झकझोरनेके लिए, जैन धर्मका सहारा ही आवश्यक है। क्योकि जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो जीव मात्रके प्रति मैत्रीभाव-करुणाभाव-दयाभावकी प्रेरणाका दायक है। वेदोकी याज्ञिकी हिसा अथवा चार्वाकादिकी भौतिक विलासिताकी ओर झुकानेवाली वृत्तियाँ उस पैशाचिक आगमे इंधनका कार्य करेगी। मांस-मदिराको देव-देवीकी ही प्रसादी मानकर आरोगनेवालोंके दिलमे निःशंक करुणाका निर्झर-तपे तवे परकी पानीकी बूदकी भाँति सूख जायेगा। उन बुझदिल आत्माओंकी मैत्री ज्योतको प्रज्वलित करनेके लिए चिराग रूप यह भाव- "मित्तीमे सव्व भूएसु, वेर मज्झं न केणइ" (सर्व भूत-जीव मात्रके प्रति मेरी मित्रता है, मुझे किसीसे वैर विरोध नही है।) कूटकूटकर भरी इसी करुणासे और ऐसे मैत्री भावसे ही तो सच्ची अहिंसा प्रादुर्भूत होती है-जो जैन धर्मका श्वास-प्राण-हार्द है, उसका सर्वस्व है। इन भावनाओको आत्मसात करनेसे अहिंसाका पालन आप ही हो जाता है, क्योकि कोई भी व्यक्ति अपने मित्र-स्वजन-आत्मीयको कष्ट या परेशानी नही पहुँचा सकता। जिस पल '*मित्तीमे सव्व भूएसु*'के भाव आत्मसात हो जाते हैं उसी पलसे अपने आप ही अंतरके कोने-कोनेमे, जिस्मकी रग-रगमे और खून की बूंद-बूंदमे "*वसुधैव कुटुम्बकम्*"का गुंजन होने लगता है। यहाँ तक कि, विश्वके सर्व जीवोंके लिए वह अपना सर्वस्व न्योछावर करनेके लिए तत्पर बन जाता है। 'मैं' और 'मेरा' के भाव संकीर्णतासे विस्तीर्णता को-स्वार्थसे परमार्थको पा जाता है।

इन सबके मूलस्रोत स्वरूप जैन धर्मका परमपावन उपदेश भ. श्री महावीर स्वामीजी के मुखारविंदसे प्रवाहित है - "भ. महावीर एक अगाध समुद्र थे। उनमे मानव प्रेमकी उर्मियां तीव्र वेगमे छलकती थी। मात्र मानव ही क्यों? संसारके प्राणी मात्रकी भलाईके लिए उन्होंने सर्वस्व त्याग कर दिया था।" [35] --"*सवि जीव करुं शासन रसी*"*की* उदात्त भावना युक्त, त्यागी-वीतरागी प्ररूपककी प्ररूपणा स्वरूप धर्म फिर क्यो न 'मानव धर्म' कहलाये? जिसकी किसी भी काल या युगके बदले वर्तमानकाल-साम्प्रत युगमे अत्यधिक आवश्यकता है। एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके सकल जीवोके लिए एक समान उपादेय-आराध्य एवं उपास्य है वही जैन धर्म-मानवधर्म-है।

(१०) निर्ग्रन्थ धर्म - श्रमण-मुनि-साधु के लिए जैनागमोंमे एवं अन्य जैनधर्म-ग्रन्थों-शास्त्रोंमे 'निर्ग्रन्थ' शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है। निर्ग्रन्थ अर्थात् ग्रन्थि रहित-जिनमें राग-द्वेषादि अंतरंग मिथ्या भावोकी क्लिष्टता नही है अथवा जो उन क्लिष्टताओंको दूर करनेके लिए वीतराग निर्देशित मार्गों पर अनुसरणके लिए उद्यत हुए हैं वे। अतएव वे निर्ग्रन्थ जिस धर्मकी साधना करते हैं वह जैन धर्मको इन्हीं कारणोसे 'निर्ग्रन्थ धर्म' अथवा 'श्रमण धर्म'-के नामसे भी उल्लिखित किया जाता है।

(११) श्रावक धर्म - जो जिनवाणी (जिनागम-श्रुतागम-वाणी)का श्रवण करके विवेकपुर. सर उस मोक्ष मार्गकी प्राप्ति करानेवाली और मोक्षस्थानको निकटतम बनानेके आधारभूत

क्रियाओंकी सम्यक् श्रद्धानपूर्वक यथोचित परिपालना करते है-उसे श्रावक कहते हैं। *"श्रृणोति इति श्रावक"*- <u>ऐसे श्रावकों द्वारा उपास्य-आराध्य जो धर्म वह जैन धर्म ही 'श्रावक धर्म' के नामसे प्रसिद्धि पा गया है।</u>

ऐसे अन्य भी अनेक पर्यायवाची नाम भिन्न भिन्न कालमे, विभिन्न भावो और आराधना विधियोंकी प्रमुखतासे प्रचलित होते रहते हैं।

जैन धर्मकी शाश्वतताका स्वरूप :- (शाश्वतताके साक्षी)

"शश्वद् भवम् शाश्वतम्" और "सदा तनमपि सनातनम्"[36].- व्युत्पत्त्यार्थानुसार।

उपरोक्त व्युत्पत्त्यानुसार 'शाश्वत' और 'सनातन'-दोनो एकार्थी शब्द हैं लेकिन, जैसे स्फटिक जिस रंगके साथ रहेगा उसी रगका दिखेगा। वैसे 'शाश्वत' शब्द जैन धर्मका और 'सनातन' शब्द जैनेतर धर्मका पर्यायवाची माना जाता है। प्राचीनता और अर्वाचीनताकी सभी विड़म्बनासे रहित: अनुत्पन्न-अविनाशी अथवा अनादि-अनतकालीन या कहो कि कालातीत; द्रव्य से सर्वथा, क्षेत्रसे सर्वत्र, कालसे सर्वदा, भावसे सर्वके लिए-जो नित्य विद्यमान है, वह है शाश्वतः चाहे वह पदार्थ हो वा सिद्धांत, चाहे वह दर्शन हो वा धर्म।

अपने चरित्र नायक-न्यायाभोनिधि, पूज्यपाद, आचार्य प्रवर श्रीमद्विजयानंद सुरीश्वरजी म.ने अपनी विभिन्न ग्रन्थ रचनाओंमे जैन धर्मकी प्राचीनता एवं शाश्वतता प्रकाशित की है - यथा- "यह संसार द्रव्यार्थिक नयके मतमे अनादि-अनंत, सदा शाश्वत है।"[37] अर्थात् निश्चय नयसे यह अनादि-अनंतकालीन-शाश्वत होनेसे न किसीने इसकी रचना की है, न कोई इसका सर्वथा विनाश कर सकता है। अगर 'किसीने रचना की है' ऐसा माने तब उस रचयिताको कैसे कैसे कलंक मिल सकते हैं और विश्वको शाश्वत क्यो माना जाना चाहिए - इसकी चर्चा "*जैन तत्त्वादर्श*" के दूसरे परिच्छेदमे 'आचार्यदेव श्रीमद्विजयानंद सुरीश्वरजी म.ने न्यायकी अनेक युक्ति प्रयुक्तियोसे की है। और जब संसार ही शाश्वत है तब सांसारिक जीव, उनसे संबंधित सांसारिक व्यवहार, रीति-नीतियाँ, धर्माधर्मादि भी अवश्य शाश्वत ही रहेगे। अतः अत्र नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्रं, काल, भाव-इन छः (भेद) निक्षेपोंके बल पर शाश्वत जैन धर्मकी शाश्वतता कैसे प्रमाणित की जा सकती है यह दृष्टव्य है -

(१) नामगत शाश्वतता - रागादि आंतररिपुके विजेता 'श्री जिनेश्वर' देवों द्वारा प्ररूपित धर्म वही है जैन धर्म। तदनुसार अनादिकालसे ऐसे अनंत जिनेश्वरोंने जो धर्म प्ररूपित किया वह 'जैनधर्म'भी <u>उन 'जिन'की अनादिकालीन शाश्वतताके कारण शाश्वत ही कहा जायेगा।</u>

(२) स्थापनागत शाश्वतता - चौंतीस अतिशयालंकृत तीर्थपतियोंने-श्री जिनेश्वरोंने-जो साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका स्वरूप चतुर्विध संघकी रचना की-स्थापना की और उस संघके प्रत्येक व्यक्तिने उनसे प्ररूपित जिस धर्मकी त्रिकरण-त्रियोग*की अखण्ड श्रद्धा-एकत्वतासे सम्यक् आराधना करके आत्म कल्याण किया-राग-द्वेषादि आंतर्शत्रुओंको जीता वह आराध्य धर्म 'जैन धर्म' ही तो है। अतएव जैनधर्म स्थापना स्वरूपसे भी शाश्वत प्रमाणित है।

(३) द्रव्यगत शाश्वतता - द्रव्य-अर्थात् पदार्थसे परीक्षण करे तो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और काल-इन षट्द्रव्योका जिसमे निरूपण किया गया है-इनके सर्वांगिण स्वरूपका चित्रण जहाँसे मिलता है वे हैं जैनधर्मके सिद्धांत स्वरूप द्वादशांगी। जीवका इन सभी के साथ अत्यन्त सन्निकट संबंध है। इनके, जिसके जितने स्कंध-देश-प्रदेश परमाणु* होते हैं (अनंत या असंख्य) उतने ही रहते हैं, उनमे कमी-वृद्धि कतइ नही होती ।

जैन सिद्धान्तानुसार *(१) धर्मास्तिकाय* चलनेमें-गति करने में सहायक है। जैसे मछलीमें तैरने की शक्ति और ज्ञान होने पर भी बिना पानी तैर नही सकती, वैसे ही किसी भी पदार्थकी गति, बिना धर्मास्तिकायके असंभव है। *(२) अधर्मास्तिकाय* स्थिर होने या रहनेमे सहायक है। *(३) आकाशास्तिकाय*-पदार्थको अवकाश (जगह-स्थान) देता है (४) संसारकी सारी विभिन्नता एव विचित्रताये *पुद्गलास्तिकाय*के ही पारिणामिक स्वरूप है। (५) *काल*-व्यवहारमें भाविको वर्तमान और वर्तमानको भूतकाल बनाने के स्वभाववाला है। इन पाँचों अजीव[३८] द्रव्योंका छठे द्रव्य *जीवास्तिकाय* पर बड़ा भारी उपकार है। इन्हींके बल पर ही समग्र जीवास्तिकायका सपूर्ण जीवन व्यवहार निर्भर है।

इन षट् द्रव्योमें (विशेष रूपसे जीव और पुद्गलमे) कही नाश होता दिखाई देता है, तो कहीं उत्पत्ति। लेकिन, परिणमनशील गुणके कारण जिस पदार्थका जिस समय नाश दृष्टिगोचर होता है, तत्क्षण उसी पदार्थकी अन्य स्वरूपसे उत्पत्ति भी ज्ञातत्व है-यथा-
जगत तो प्रवाहसे अनादि चला आता है. किसीका मूलमें रचा हुआ नहीं है । काल-स्वभाव-नियति-कर्म-चेतन (आत्मा) और जड़ पदार्थ-इनके सर्व अनादि नियमोसे यह जगत विचित्र रूप प्रवाहसे चला हुआ उत्पाद-व्यय-ध्रुव रूपसे इसी तरे चला जायेगा ।[३९].

परमकृपालु परमात्माके निर्देशित 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' रूप त्रिपदी पर आश्रित ये षट् द्रव्य अनादिकालसे ध्रौव्य रूप अवस्थित भी हैं और उत्पाद-व्यय-रूप अनवस्थित-परिणमनशील भी-जैसे-मूल द्रव्यसुवर्ण, ध्रौव्य रूपसे नित्य विद्यमान रहता है, लेकिन पर्यायरूप कुंडल, हार, बाजुबंधादि उत्पाद-व्यय रूपसे कभी अस्तितवमें आते हैं और कभी विनष्ट होते भी दृष्टिगत होते हैं। अतएव द्रव्यार्थिक नयसे जीवका अस्तित्व अनादि-अनंतकालीन है और पर्यायार्थिक नयसे जीव-मनुष्य, तिर्यंच, नारक, देवादि नाना स्वरूपसे विद्यमान रहता है। जैसे- "यह संसार प्रवाहसे अनादि है तैसे ही सिद्ध पद भी अनादि है। जीव भी अनादिकालसे ही मोक्षपदको प्राप्त होते चले आते है।"[४०] भगवान श्री महावीर स्वामी और उनके अंतेवासी, भाव-मार्दवके स्वामी, शुद्ध उपयोग युक्त, विनयवान श्री रोहाके प्रश्नोत्तर दृष्टव्य है-

प्र. "पुव्वि भंते ! लोए पच्छा अलोए, पुव्विअलोए पच्छा लोए ?"

उ. रोहा ! लोए य अलोए य पुव्वि पेते पच्छा पेते; दोवी एए सासया भावा अणाणु पुव्वीएसा।

प्र. "पुव्विं भंते ! जीवा पच्छा अजीवा, पुव्वि अजीवा पच्छा जीवा ?"

उ. जहेव लोए य अलोए य तहेव जीवा य अजीवा य, एवं भवसिद्धाय-अभवसिद्धाय, सिद्धि-असिद्धि, सिद्धा-असिद्धा.. ..से ण अडए कओ ? कुक्कुडीओ । सा ण कुक्कुडी कओ ? अडयाओ । एवमेव रोहा ! साय अंडए, साय कुक्कुडी पुव्विपंते, पच्छापंते दुवे-ते सासय भावा ।"[४१].

इसी तरह *मोक्ष मार्गका, विश्वके समस्त पदार्थोंका, नय-निक्षेप प्रमाणोंका, अनेकान्त-स्याद्वादादिका, लोकालोकका, •विश्वमे सर्वश्रेष्ठ जीवविज्ञानका,* सम्यक् दर्शन-स.ज्ञान-स.चरित्र रूप *रत्नत्रयीका* सत्य तत्वमय सुदेव-सुगुरु-सुधर्मरूप *तत्वत्रयीका,* देव-मनुष्य-तिर्यंच-नरकादि *चार गतिका, जीवोकी गति-आगति (जन्म-मरणादि)का,* साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप *व्यवस्थित कानूनबद्ध चतुर्विध संघका,* सर्वोत्कृष्ट अहिंसादि सर्वविरति मार्ग स्वरूप *पंच महाव्रतोंका,* धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल रूप **षट् द्रव्योंका,** एक परमाणु पुद्गलसे द्वयाणुकादि स्कंध स्वरूप *परमाणुसे स्कंध पुद्गलोंकी व्यवस्थाका,* जीवोको होनेवाले घाती-अघाती आदि रूप *अष्टकर्म बन्ध, कर्म-मुक्ति अर्थात् कर्म सिद्धान्त और कर्म व्यवस्थाका, कार्मणादि अष्ट वर्गणाओका,* जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्झरा, मोक्ष रूप *नवतत्त्वोंका,* अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप रूप *नवपदोका,* अणुव्रत (पांच) गुणव्रत (तीन), शिक्षाव्रत (चार) रूप देशविरति मार्ग योग्य *बारह व्रतोंका,* आत्माके गुण विकास क्रम रूप *चौदह गुण स्थानकोंका, चौदह राजलोक स्वरूप लोक व्यवस्थाका और उसकी रचनाके विचारादिकी शाश्वत सैद्धान्तिकताका निरूपण* शाश्वत जैनधर्मके ग्रंथोकी एवं उनके प्ररूपक श्री अरिहंत भगवंतोंकी और उनके रचयिता गणधर भगवंतोंकी-परम्परासे पूर्वाचार्यादि अनेक विद्वत्पुंगवोंकी अखंड, अनंत करुणासे ही निष्पन्न आविर्भाव है-यथा- "इच्चेइय दुवालसंग गणिपिडग अतीनकाले अणत जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसार कंतारं वीइंवईसु: एव पडुप्पण्णेऽवि, एवं अणागाएऽवि ।

"दुवालसंगे गणिपिडगे ण कयावि णत्थि, ण कयाइ णासि, ण कयाइ न भविस्सइ ।

"भुविं च भवति य भविस्मत्ति य, अयत्ने, धुवं, णितिए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, णिच्चे ।

"से जहा णामए पंच अत्थिकाया ण कयाइ णासि, ण कयाइ णत्थि, ण कयाइ ण भविस्सत्ति । भुविं च भवति य भविस्सत्ति य, अयत्ना, धुवा, णितिया, सासया, अक्खया, अव्वया, अवट्ठिया, णिच्चा ।" [४२]

(८) क्षेत्रगत शाश्वतता- विश्वधर्मके अंदाजसे जैनधर्म चौदह राजलोककी त्रसनाडीमे आराध्य धर्म है। यह सकल पंचेन्द्रिय जीवोंकी साधना स्वरूप है, तो अन्य एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियादि• जीवोंके लिए श्रेयस्कर-प्रेयस्कर-उपस्कर है। उर्ध्वलोकके वैमानिक•, तिर्च्छालोकके ज्योतिष्क और अधोलोकके भुवनपति• एवं व्यंतरादि• चारों निकायके देवोंके लिए आराध्य-उपास्य-सेव्य है।

इस जैन धर्माचरण और धर्मभावन रूप सम्यक्त्व प्राप्त अधोलोकस्थित नरकावासके नारकभी कर्माधीन वेदनाको समभावसे सहते हुए नए कर्मबंधनसे बच सकते हैं। वेदना-पीडा-और परपीड़न सम्यक् रूपेण सहते हुए दुर्ध्यानसे बचावकर आत्मकल्याण कर लेते हैं।

तिर्च्छालोकके तिर्यंच भी (जलचर, खेचर, भूचरादि पशु-पक्षी) इससे अपनी आत्म साधना-त्रिविधाराधना करते हैं, तो मनुष्य संसार समुद्रसे इसीके बल पर किनारा कर लेते हैं।

एक तोता पालीतानाके सिद्धगिरि-शंत्रुजय पर्वत पर बिराजित श्री आदीश्वर भगवानकी प्रतिमाकी नित्य पूजा-अर्चना करता था, वह मरकर मनुष्य गतिको प्राप्त हुआ। उस मानव वालक-सिद्धराज जैन-को पूर्वभव स्मरण रूप 'जातिस्मरण' ज्ञान हुआ तव इस वातका पर्दा खुला"[४३] ।

आश्चर्य होगा यह जानकर कि एक कुत्ता वम्बईसे पालीताना तीर्थयात्रा के संघमे साथ था, जो उपवास-एकासनादि तप मनुष्यकी भाँति (श्रावक सदृश) करता था, प्रवचन सुनता था और भगवानके दर्शन-वंदनादि करके प्रभु भक्ति भी करता था ।

एक कछुआ-वड़ोदाकी एम्बेसेडर रेस्टोरांमे था-जो परमात्माके मंदिरमे नित्य प्रदक्षिणा करते हुए वीतराग-देवाधिदेवके दर्शन करता था, शाश्वत मंत्र-श्री नमस्कार महामंत्र- ध्यानसे सुनता था और रात्री-भोजन त्याग-पर्वतिथि हरि सब्जी त्याग-प्रासुक पानी वापरना आदि जैन-श्रावकोके नियमोका यथोचित पालन करता था"[४४].

ऐसे अनेक उदाहरण जैनागमो-शास्त्रों-इतिहासादिके स्वर्णपृष्ठो पर अंकित हैं। मध्यलोकके मनुष्य क्षेत्रमेंसे (ढाइद्वीपमेसे) पाँच महाविदेह क्षेत्रमें इसकी आराधना अस्खलित धारा प्रवाहरूप निरंतर आराधित है, जबकि अन्य पाँच भरत-पाँच ऐरावत-मे काल प्रभावसे मर्यादित है। यथा- "पुक्खरवरदीवद्ढे, धायई संडे अ जंवूदीवे अ भरहेरवय विदेहे, धम्माइगरे नमंसामि"[४५]. अतएव इन क्षेत्रोमें मानव भवोपकारी धर्मकी अविच्छिन्न आराधनाकी अविरत धारा प्रमाणित होती है।

इस प्रकार क्षेत्रापेक्षया भरत-ऐरावत---दस क्षेत्रोंमें अवसर्पिणी कालमें तृतीय आरेके अंतसे पंचम आरेके अंत तक और उत्सर्पिणी कालमे तृतीय-चतुर्थ आरेमे धर्मप्रवृत्ति नव-पल्लवित होती है-फूलती है-फलती है जबकि इसके अतिरिक्त कालमे धर्माराधनाये लुप्त हो जाती हैं; महाविदेह क्षेत्रमें न उत्सर्पिणी काल है-न अवसर्पिणी, न युगलिक युगकी व्यवस्था है न धर्म विच्छेद, न कभी तीर्थंकरोका विरह-न उनसे प्ररूपित धर्मकी कभी विच्छिन्नता-न व्युत्पत्ति --- सर्वदा धर्मका सातत्य एवं सान्निध्य बना रहता है। कालचक्रकी कोई परिगणना वहाँ नहीं होती। क्षेत्रके विशिष्टातिशयके कारण, वहाँ अपने स्वाभाविक रूपसे सर्वदा-सर्वत्र-संपूर्ण जैन धर्म स्वरूप वृत्ति-प्रवृत्ति और आत्माभ्युदय ही नजर आता है।

इस प्रकारके लक्ष्यसे पर्यालोचन करें तो जैन धर्मकी शाश्वतता समझना अतीव सहज एवं सरल है। पाँच महाविदेहकी १६० विजयोमें (प्रत्येक विजयका क्षेत्रीय स्वरूप पूर्णतया एक भरत या ऐरावत क्षेत्र समान होता है) से जघन्यकालमे बीस या दस और उत्कृष्ट कालमें प्रत्येक विजयमे तीर्थंकरोका सदेह विचरण एवं जैन धर्मकी सर्वोत्कृष्ट प्रभावना होती है। -यथा

"वत्तीस चउसठ चउसठ मलिया, इगसय सट्ठि उकिट्ठाजी,
चउ अड अड मली मध्यमकाले, वीस जिनेश्वर दिट्ठाजी,

दो चउ चार जघन्य दस जंबू धायइ पुक्खर मोझारजी,

पूजो प्रणमो आचारांगे प्रवचन मारोद्धारजी ।"

अतएव चौदह राजलोक जितने विशाल क्षेत्रको दृष्टिपथ पर रखते हुए जैनधर्मकी शाश्वतताका परीक्षण करे, तो सभी सहजतासे स्वीकार करेंगे कि, क्षुल्लक ऐसे भरतैरावत क्षेत्रोंको छोड़कर, उससे कई गुणे विस्तृत क्षेत्रमे जैन धर्मकी आराधना-साधना-उपासना निरंतर करते हुए कर्म निर्जरा करके जीव मोक्ष प्राप्ति करनेमें पर्याप्त रूपसे सक्षम बनते है। तिर्च्छालोकके मनुष्य क्षेत्रमे भरतैरावत क्षेत्रापेक्षया जैन धर्म ज्वार-भाटा सदृश प्रमुदित एव प्रसुप्त है, तो महाविदेह क्षेत्रापेक्षया शाश्वत भावसे अखड, अव्याबाध, अस्खलित रूप आराधित है।

(५) कालगत शाश्वतता- श्री केवलज्ञानी भगवंतके प्रत्युत्पन्न ज्ञानलवसे ज्ञेय पदार्थोंके त्रिकालवित् सर्वसंपूर्ण-अक्रमिक भावोको ज्ञात किया जाता है। उन्ही भावोको ज्ञानी भगवंतोंने एवं पुर्वाचार्योंने कालचक्रके स्वरूप-निरूपणके साथ लेकर अनंत सुख स्वरूप शाश्वत और प्रामाणिक धर्मका जिक्रभी किया है। जिसकी साधनासे अनत जीव मोक्षसुखको प्राप्त कर गये हैं-कर रहे है और करेगे। शाश्वतताके संदर्भमे यहाँ कालचक्रका यत्किंचित् अत्यन्त संक्षेप स्वरूपोल्लेख अस्थानीय न होगा। इसके दो विभागके छ-छ आरे होते है।

कालचक्र स्वरूप -काल प्रभावके कारण प्रत्येक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालमे काया-प्रमाण, कायबल, बुद्धि, आयु, कांति, सुख, समृद्धि, गुण, रिद्धि, पृथ्वी, जलादिके रसकसमे उत्तरोत्तर वृद्धि-हानि दृष्टिगोचर होती है।

(अवसर्पिणीके प्रथम तीनो आरोका स्वरूप कालचक्रके चित्रानुसार ज्ञातव्य है।) इसके तृतीय आरेके प्रान्त समयमे कल्पवृक्षके अभिप्सित दानमे कमी आती है, कभी तो देते ही नही, जिससे युगलिकोमे ममत्व-लोभादि दुष्ट भावनाये उद्‌भावित होने लगती हैं। पल्योपमके* आठवें भाग जितना काल तृतीय आरेके समाप्त होनेमे शेष रहने पर युगलिकोंके झगड़ोंके न्याय करने और अपराधीको दड देने हेतु एक वंशमे सात कुलकरोकी प्रसिद्धि हुई। वे कुलकर ही न्यायाधीश और राजा सदृश होते हैं।

इस अवसर्पिणी कालके विमलवाहन और चाक्षुष्मान् कुलकरोके समयमे केवल 'हा'कार (हा ! तुमने यह क्या किया ?) दंड था; यशस्वान् और अभिचद्रके समयमे 'हा'कार और 'म'कार (सामान्य अपराधके लिए 'हा'कार और विशिष्टके लिए 'ऐसा मत करना') दंडनीति रही, प्रश्रेणि, मरुदेव और नाभिके समयमे तिसरी- 'धिक्कार' नीति भी जोड़ दी गइ थी।

इन्हीं सातवें नाभि कुलकरके कुलमें तृतीय आरेके ८४ लाख पूर्व*-८९ पक्ष शेष रहते हुए प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेवका जन्म हुआ। इस अवसर्पिणीमे प्रथम विवाह आपका ही अन्य कन्यासे--इद्र द्वारा रचा गया, जिससे युगलिक प्रथाका* अन्त हुआ। साथसाथमें कल्पवृक्ष नष्ट होने पर खाने हेतु धान्य उत्पन्न होने लगता है। बादर अग्नि प्रकट होने

पर लोगोकी विनती और नाभि कुलकरके आदेशसे श्री ऋषभदेवजी इस अवसर्पिणीके प्रथम राजा बनकर शिल्पादि स्त्री-पुरूषोंकी कलायें सिखाते हैं। तदनन्तर आपने ही प्रथम दीक्षा लेकरके आत्म साधना करते हुए केवलज्ञानकी ज्योत सर्वप्रथम प्रज्वलित की-जो कभी तेज, कभी मंद होने पर भी संप्रतिकालके अंतिम भगवान श्री महावीर स्वामी तक विश्वके प्राणीयोको - विशेष रूपसे भरतक्षेत्रके भव्यजीवोंके उत्कृष्ट जीवनके प्रशस्त राजमार्गको प्रकाशित करती रही है। आपके निर्वाणके प्रश्चात्८९ पक्षके व्यतीत हो जाने पर तृतीय 'सुषम-दु:षम' आरेकी समाप्ति होती है ।

तत्पश्चात् ४२,००० साल कम एक कोडाकोडी सागरोपम प्रमाणोपेत चतुर्थ 'दुषम-सुषम' नामक आरेमे धर्म-कर्मका साम्राज्य रहा। द्वितीय तीर्थपति श्री अजितनाथसे अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी पर्यंत-तेईस .तीर्थंकर धर्मका प्रादुर्भाव एवं प्रचलन करते हुए स्व-पर कल्याण में तत्पर हुए। इस आरे के सर्व भाव महाविदेह क्षेत्रकी विजयोंकी भाँति ही होते हैं। इस आरेके अंत होने पर मोक्ष मार्गमे हानि होती है। भगवान श्री महावीरके निर्वाण पश्चात् ८९ पक्ष व्यतीत होने पर यह आरा समाप्त होता है।

तदनन्तर २१,००० साल पर्यंत दुषमकालके भाव प्रवर्तीत होने लगते हैं। इसमें बहुलतासे दु:खकी अनुभूति विशेष होती है। सुखमें भी दु:खागमनकी भ्रान्ति चित्तको परिताप करती रहती है। मानवकी उत्कृष्ट आयु १२५ साल और उत्कृष्ट अवगाहना (ऊँचाई) सात हाथकी, आहार अनियमित होता है। इस कालकी समाप्तिके पहले ही जैन धर्म शनैःशनैः ह्रास होते होते विच्छिन्न हो जायेगा। अंतमे चतुर्विध संघ रूप केवल चार धर्मीजन साधु श्री दुप्पसह सूरिजी म.सा., साध्वी श्री फल्गुश्रीजी म., श्रावक श्रीनागिल, श्राविका सत्यश्री नामक-ही रहेंगें। उनके कालधर्म-मृत्यु पश्चात् जैन धर्मका प्रकाश भरतैरावत क्षेत्रसे लुप्त हो जायेगा। इस कालके प्रारंभसे ही क्रषाय, कामासक्ति, मद-अभिमान, क्रूरता, हिंसा, मिथ्यामत, पाखंड़, उत्सूत्र प्ररूपणा, कपट-कदाग्रहादिकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है; तो उत्तमाचार, कुलीनता, विनय, मर्यादा, विद्या प्रभाव, मैत्रीभाव, घी-दूध-धान्यादि सार पदार्थोंके सत्व, आयुष्य, मैत्री, भावादि अनेक गुणोकी उत्तरोत्तर हानि दृष्टिगोचर होती हैं, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हम कर रहे हैं क्योकि वर्तमानमें यही आरा प्रवर्तमान है।

अंतिम २१००० साल प्रमाणोपेत 'दुषमदुषम' नामक एकांत दुःखमय कालका प्रारंभ होता है, जिसमें निःकेवल दुःख, वेदना, परितापयुक्त जीवनयापन करते हुए; दिनमें भयंकर-असह्य गरमी और रात्रीमें कातील सर्दी सहते हुए; गंगा-सिंधु या रक्ता-रक्तवती नदियोंके बिलोंमें निवास करनेवाले, उत्कृ. बीस सालकी आयुष्यधारी, एक हाथ अवगाहना (उँचाई)वाले, अमर्यादित आहारेच्छावाले, परस्पर कलेशवाले, दीन, हीन, दुर्बल, दुर्गंधमय, रोगीष्ट, अपवित्र, नग्न, आचारहीन, धर्मरहित, पुण्यरहित, केवल मांसाहारी (मत्स्यादि जलचरोंको नदी किनारेकी रेतमे गाड़कर दिनमें सूर्य-गरमीसे पकनेवाले मांसके आहारी) और आयुष्य पूर्ण होने पर नरक-तिर्यंचगामी मनुष्य रहेंगें।

छः सालकी स्त्री अनेक बालकोको एक साथ प्रसूत करके महाक्लेशका अनुभव करेगी। *इस अवसर्पिणीके वर्णनसे प्रतिलोम क्रमसे उत्सर्पिणीके छः आरोंका स्वरूप ज्ञातव्य है । उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकालके बीस कोड़ाकोडी सागरोपम* प्रमाण एक कालचक्र बनता है।* यथा-"एक अवसर्पिणीकाल अर्थात् जो सर्व सारभूत वस्तुओंका क्रमसे नाश करता चला जाता है तिसके छे हिस्से है, तथा उत्सर्पिणीकाल अर्थात् सर्व अच्छी वस्तुओको क्रमसे वृद्धिमान करता चला जाता है..... ..यह अवसर्पिणी अरु उत्सर्पिणी मिलकर दोनोंका एक कालचक्र वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण होता है । ऐसे कालचक्र अनंत पीछे व्यतीत हो गए है और आगेको व्यतीत होवेगे ..... .इस तरह अनादि अनंतकाल तक यही व्यवस्था रहेगी ।"[४८] यह स्वरूपालेखन केवल भरतैरावत क्षेत्राश्रयी किया गया-जहाँ जिन धर्माराधना पूर्णिमा और अमावास्या के चंद्रकलाओंकी सदृश वृद्धि-हानि होती रहती है। लेकिन महाविदेह क्षेत्रकी सर्व विजयोंमे धर्माराधनायें निरंतर होती रहती हैं तीर्थकरके विरहकालमे भी उनके पथ-प्रदर्शक केवली भगवंत एवं साधु-साध्वीके निर्देशनमें आराधना होती रहती है। वहाँ सदा-सर्वदा मोक्ष मार्गकी आराधना और मोक्ष प्राप्ति होती ही रहती है। काल प्रभावसे ही तथा प्रकारके परिणाम प्राप्त होते रहते हैं।

अतएव निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि जैन धर्म अनादिकालसे अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहबद्ध स्वरूपसे नित्याराधित है और रहेगा। श्री स्कंदक परिव्राजकके साथ प्रश्नोत्तर समय भगवान महावीरके उद्गार स्पष्ट है-यथा - "कालओणं लोए ण कयावि न आसी, न कयावि न भवति, न कयावि न भविस्सति: भविसु व भवति य भविस्सइ य. धुवे, णितिए, सासते, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए णिच्चे-णत्थि पुण से अंते । . से त्त दव्वओ जीवे सअंते, खेत्तओ जीवे स अंते, कालओ जीवे अणंते, भावओणं जीवे अणंता णाण, दंसण, चरित्त, गुरुलहु, अगुरुलहु पज्जत्ता. .....एवं खलु चउव्विहा । सिद्धि पज्जता-दव्वओ सिद्धि सअंता, खेत्तओ सिद्धि सअंता, कालओ सिद्धि अणता, भावओ सिद्धे अणता ... कालओ सिद्धि अणंते, भावओ सिद्धे अणंते" ।[४९]

(६) भावगत शाश्वतता- यथानाम तथा गुणानुसार 'जैन' शब्द-निष्पन्न भावको ग्रहण करे तो मोहनीयादि कर्म सेनापतियोके अनंत कर्मकटकको, मानवजीवन रूपी रणक्षेत्रके विविध व्यामोह रूप व्यूहचक्रोको भेदनेके लिए यम-नियम-योगादि साधनास्त्रोसे और तप-जप ध्यानादि विभिन्न आराधनायुधोकी सहायतासे अथक-अनवरत-अखंड परिश्रम करके विशिष्ट आत्म-विजय संपन्न-विजयशील-जिनेश्वर-वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रकाशित और प्रसारित धर्म-जैनधर्म है; जो धर्मसाधककी आत्माके राग-द्वेषादि दूषणोको दूर करनेवाला एवं वीतरागादि गुण प्राप्तिके पथको प्रदर्शित और प्ररूपित करनेवाला है ।

यह जीव सृष्टि जैसे कालगत अनादि-अनंतकालीन है वैसे ही उन जीवोंकी भावगत आराधना-साधना-उपासना स्वरूप धर्मभी अनादि अनंत स्वयं सिद्ध ही है-यथा-'मनुष्यमें धर्मरूप गुण वास्तवमें है कि नही ?' इस प्रश्नका प्रत्युत्तर देते हुए आचार्यप्रवर श्रीमद्विजयानंद सुरीश्वरजी म.सा. लिखते हैं- "धर्म रूप गुण मनुष्यमे वास्तविक है, क्योंकि धर्म जो होता है सो धर्मीका स्वरूप ही होता है-जैसे मिसरीकी मिठास। इस 'धर्म' पदके कहनेमें ही वास्तविक 'धर्म-धर्मी'का अविष्वग् भाव

संबंध सिद्ध होता है । . .जैनियोंका यह मंतव्य है कि, जगत अनादि है, ईश्वर-भगवान हमारा सन्मार्गदर्शी (रहनुमा) और दुर्गतिपातसे रक्षक है ।.. ..धर्मका परम पुरूषार्थ यह है कि जगत्वासी जीवको नाना गतिके जन्म मरणादि शारीरिक और मानसिक दुःखोंका नाश करके परमपद-सिद्धपदमें अर्थात् ईश्वर पदमे प्राप्त करता है।"[५०]

इस धर्मकी आराधना दो प्रकारसे होती है-पंच महाव्रत पालन रूप सर्वविरति याने साधुपनेसे और द्वादश पालनरूप देशविरति या सम्यग् दृष्टि अविरति गृहस्थ धर्माचरणसे।

श्री तीर्थंकर भगवंत अपने तीर्थंकर नामकर्म रूप पुण्य कर्मोदयसे प्राप्त केवलज्ञानमें भासन होनेवाले भव निस्तारक धर्मामृत, पियूषगिरासे प्रवाहित करते हैं, जिसे श्री गणधर भगवंत-क्रोडोंकी क्षुल्लक रौप्य मुद्रिकाओंको एक कोहिनूर हीरेमें समाविष्ट करनेकी चेष्टा स्वरूप, उस श्रुत सागरको---सूत्र रूप गागरमें समाविष्ट कर देते हैं। वही गागर-सूत्रसमूह-सन्दूक स्वरूप द्वादशांगी की रचना-गणिपिटक कहलाती है । इसकी अगाधता आश्चर्यकारी है-यथा- ५१,०८,८४,६२१ १/२ श्लोकोंका एक पद होता है और ३,६४,४६००० पद प्रमाण एक अग बनता है। ऐसे ग्यारह अंग सूत्र, और १६३८३ हस्तिप्रमाण मषिपूंजसे लिखा जाय उतना विस्तृत बारहवां 'दृष्टिवाद' अंग होता है। भरतैरावत क्षेत्रमें इस अवसर्पिणी काल प्रभावसे बुद्धि-याददास्त-हानिके कारण शनैः शनैः लुप्त होते होते संक्षिप्त बनते जाते हैं। साम्प्रतमें सार स्वरूप केवल ६,५९,३३० श्लोक प्रमाण पैंतालीस आगम स्वरूप साहित्य अवशिष्ट रह पाया है, जिनके सहारे भवभ्रमणके हेतुरूप जुल्मगार कर्मराजाकी कैदसे मुक्त होनेके लिए यत्किंचित् अमोघ उपाय प्राप्त हो सकते हैं। जबकि अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल प्रभावसे विमुक्त-विशिष्ट क्षेत्र महाविदेहमे उपरोक्त सूचित संपूर्ण श्रुतसागर सदा-सर्वदा-सर्व विजयोमें स्थिर रूपसे उपलब्ध होता है। जिससे आराधक आत्मा त्रिकालाबाधित आराधना करके आत्मकल्याण कर सकते हैं।

अतएव निष्कर्ष यह निवेदित है कि, द्रव्य ही भाववृद्धिका कारण बनता है इससे जैसे द्रव्य शाश्वत है वैसे ही भावगत जैनधर्म शाश्वत है।

जैन धर्म की ऐतिहासिक परम्परा :-

अनादिकालीन जैनधर्मके शाश्वत स्वरूपको ज्ञात कर लेनेके पश्चात् उसकी ऐतिहासिक परम्परा जाननेकी उत्कंठा होना सहज स्वाभाविक है।

ढाई द्वीप स्थित पाँच महाविदेह क्षेत्रकी (प्रत्येककी चार चार) बीस विजयोंमें विचरण करते हुए एवं उत्कृष्ट या मध्यमकालमे विचरण किये हुए तीर्थंकरोंके जीवन-कवन संबंधित साहित्य जैन ग्रन्थ-शास्त्रोमे आलेखित है। वर्तमान कालमे पाँच महाविदेह क्षेत्रकी एक सौ साठ विजयोमेंसे बीस विजयोमें-प्रत्येकमे एक एक *श्री सिमंधर, श्री युगमंधर, श्री बाहु, श्री सुबाहु, श्री सुजात, श्री स्वयंप्रभ, श्री ऋषभदेव, श्री अनंतनाथ, श्री सुरनाथ, श्री विशालदेव, श्री व्रजधर, श्री चंद्रानन, श्री चंद्रप्रभ, श्रीभुजंगदेव, श्री ईश्वरनाथ, श्री नेमिप्रभ, श्री वीरसेन, श्री महाभद्र, श्री देवयशा, श्री अजितनाथ*[५१] -स्वनाम धन्य बनानेवाले बीस तीर्थंकर विचरण

कर रहें हे और मानव जन्मका सार्थक्य करानेवाले आध्यात्मिक अवबोध रूप धर्म प्ररूपणा करके असंख्य आत्माओको भवनिस्तारिणी आराधना निरूपित करनेवाली अमोघ-देशनासे लाभान्वित कर रहै है।

इसी तरह पाँच भरत-पाँच ऐरावत क्षेत्रमे प्रत्येक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालके चौबीस तीर्थकर भी अपने 'तीर्थकर नामकर्म'रूप पुण्य-भुक्ति करते हुए स्व-परात्म कल्याणमयी आत्मोद्धारक-मधुर गिरा प्रवाहको प्रवाहित करते हैं, जिस प्रशस्त मार्गका आराधन अनेक भव्य• जीवात्माको निस्तार (भवसे) करानेमें सहायक बनता है। वर्तमानकालीन पंचम आरेमें इस जबूद्वीपके भरतक्षेत्रमे चरम तीर्थपति श्री महावीरोपदिष्ट धर्माराधना प्रवर्तमान है।

जंबूद्वीपके भरतक्षेत्रमे अनादि कालसे प्रवहमान, अनत कालचक्रोके व्यतीत होते होते वर्तमान अवसर्पिणी कालकी तीर्थकर परम्परा-अठारह कोडाकोडी सागरोपम मे कुछ न्यून काल प्रमाण-अति दीर्घ विरहकाल पश्चात्-तृतीय 'सुषम-दु.खम' नामक आरेके चौर्यासी लक्ष पूर्व और नवासी पक्ष शेष रहते हुए प्रारम्भ होती है ।

प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव जीवन - चरित्र ---

अषाढ कृष्णा चतुर्थीके दिन उत्तराषाढा नक्षत्रमें चंद्रका योग आने पर 'सर्वार्थसिद्ध•' नामक अनुत्तर देवलोकसे च्यवकर सातवे कुलकर श्री नाभिकी युगलिनी मरुदेवाकी रत्नकुक्षीमे प्रथम तीर्थपतिका चौदह महास्वप्न• सूचित अवतरण हुआ, एव चैत्र कृष्णा अष्टमीको गगन मंडलमे-ज्योतिषशास्त्रानुसार सर्वग्रह सर्वोच्च स्थान पर आते ही श्री ऋषभदेव भगवंतका जन्म हुआ जिससे तीनो लोक आलोकित हुए, साथ ही चौर्यासी लक्ष योनिकी सकल जीव राशिको अवर्णनीय सुखानंदका आह्लाद मिला। छप्पन दिक्कुमारिकाओने एव सौधर्मेन्द्रादि चौसठ इन्द्रान्वित असख्य देव-देवियोने अपने अपने आचारानुसार भगवंतका बडे ठाठसे-भक्तिभाव भरपूर-जन्मोत्सव किया। पिता-नाभि कुलकरने भी यथायोग्य जन्मोत्सव किया।

८४ लाख पूर्व वर्षकी आयुमर्यादा युक्त, ५०० धनुष प्रमाण तनुधारी, सुवर्णवर्ण-सुंदर-सौष्ठव युक्त वपुवान् श्री ऋषभदेवका, यौवनवयसे भावित होने पर इन्द्रो एव इन्द्राणियो द्वारा सुमंगला और सुनंदा नामक दो युवतियोसे, इस अवसर्पिणी कालका-युगला धर्म निवारण के प्रतीक रूप-सर्व प्रथम विवाह किया गया। तबसे भरतक्षेत्रमे लग्न प्रथाका प्रादुर्भाव हुआ। छ लाख पूर्व तक उत्तमोत्तम सुख-समृद्धि विलसते हुए आपके सौ पुत्र और दो पुत्रियोंका परिवार हुआ। इनके अतिरिक्त भी अनेक पौत्र-प्रपौत्रादिका परिवार भी प्राप्त हुआ। बीस लाख पूर्व वर्ष व्यतीत होने पर उन मिथुनकोकी अभिलाषा पूर्ण करनेको, उनका न्याय और रक्षण करने को, श्री नाभि कुलकरकी प्रेरणा और आदेश प्राप्त करके पुरुषाद्य-प्रजापति-प्रथम राजन् के रूपमे आपका इन्द्रादि देवो द्वारा राज्याभिषेक किया गया। उन युगलिकोके निवास योग्य १२यो x ९यो. की 'विनिता' नामक नगरी-अलकापुरी सदृश सुवर्णनगरी-इंद्रकी आज्ञासे बसायी गई। उसकी सुचारु व्यवस्थाके लिए उग्र, भोग, राजन्य एवं क्षत्रिय कुलोकी स्थापना

की गई। आपने असि-मसि-कृषि रूप जीवनयापनकी रीति-नीति, बादर अग्नि की स्वय उत्पत्ति होने पर भोजन व्यवस्था विधि, स्त्रियोकी चौसठ, पुरुषोकी बहत्तर कला एव सौ प्रकारके शिल्प रूप सासारिक अनेकविध कलाओको-शिक्षा संस्कारोको प्रकाशमान और प्रवर्तमान करके नीति सम्पन्न, सुख शातिमय और सुचारु व्यवस्था सह त्रेसठ लाख पूर्व पर्यंत स्वस्थ राज्य संचालन किया।

जन्मसे ही मति-श्रुत-अवधि* -प्रमुख तीन ज्ञानके धारक श्री ऋषभदेव भगवंतने अपनी आयुके एक लाख पूर्व वर्ष शेष रहते हुए अवधिज्ञानसे अपने दीक्षाकालको जानकर भरतादि सौ पुत्रो एव अनेक प्रपौत्रोको विभिन्न प्रदेशोके राज्य पर स्थापन करके नवलोकातिक* देवोकी 'तीर्थ प्रवर्तमान करनेकी' विनतीको लक्ष्यमे रखकर, एक वर्ष पर्यंत यथेष्ट वार्षिक दान प्रदान करते हुए गृहवास त्यागकर चैत्र कृष्णा अष्टमीको, आत्म शुद्धयार्थ विनिता नगरीके सिद्धार्थवन नामक उद्यानके अशोक वृक्षके नीचे द्रव्यसे चउमुष्टि केशलुचन करके और भावसे सर्व कषायादि दूर करने स्वरूप भावमूड होते हुए उत्तराषाढा नक्षत्रमे चद्रका योग होने पर दो निर्जल उपवास युक्त ४००० पुरुषोके साथ आत्मसंयम स्वरूप सम्यक्-चारित्र महामहोत्सव पूर्वक अगीकार किया।

तत्पश्चात् छद्मस्थावस्थामे भिक्षाविधि और भिक्षाचर से अपरिचित-अनजान लोगोसे मुनि योग्य अन्न-जलकी भिक्षा चारसौ दिन तक न मिलनेसे चारसौ उपवास हुऐ। तदनन्तर हस्तिनापुर नगरीमे विचरण करते हुए, आपके दर्शन होते ही जातिस्मरण ज्ञान* प्राप्त होने पर भिक्षा-विधि आपके प्रपौत्रको ज्ञात हुई जिससे आपको निर्दोष आहारकी प्राप्ति हुई और आपने उस निर्दोष एषनीय इक्षुरससे चारसौ उपवासका पारणा किया।

इस तरह सयम धारण करनेके पश्चात् अनवरत सहस्त्राब्द पर्यंत अहर्निश अप्रमत्त दशामे, निरंतर तप-ध्यान-, यम-नियम से भावित-आत्म साधन लयलीन-कर्म कलुषित निजात्माको, विशुद्ध-निष्कर्मा बनाने हेतु प्रचंड यज्ञ रूप आराधना-साधनामे तत्पर बनकर परिषह-उपसर्ग*, संकट-विकट, कष्ट-कठिनाइयोको समभावसे सहते हुए और कर्मकटकको विदारते हुए फागुण कृष्णा एकादशीको पुरिमताल नगरके शकटमुख उद्यानमे न्यग्रोध नामक उत्तम वृक्षके नीचे, निर्जल तीन उपवास युक्त, उत्तराषाढा नक्षत्रमे चंद्रका योग होने पर अविनाशी अनत केवलज्ञान-केवल दर्शनकी ज्वलत-ज्योत-प्रकाशी, आप-पूर्णज्ञानी-सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी बने।

इस हर्षोल्लासपूर्ण अवसरमे सोनेमे सुहागेकी तरह आपके ज्येष्ठ पुत्र भरतके साथ आपके दर्शनको, हाथी पर बैठकर आयी हुई माता---जिसने आपके विरहमे रोते रोते नेत्र-रोशनी गंवा दी ऐसी असीम ममतामयी माता---आपका निर्ममत्वयुक्त अवर्णनीय वैभव-शोभा देखकर स्वयं प्रतिबोधित होती है और सासारिक सबंधोकी अनित्यताकी भाव-धारा पर अग्रसर होते होते सर्व घातीकर्म क्षय करके अ-क्षर केवलज्ञान और केवलदर्शनको संप्राप्त करती हैं, सयोगसे उसी समय सर्व अघाती कर्मके क्षयकी भवितव्यताके कारण इस

अवसर्पिणी कालकी सर्व प्रथम मोक्षगामी आत्माके गौरवसे गौरवान्वित बननेका परम सौभाग्य प्राप्त करती है।

वीतराग श्री ऋषभदेवजीके केवलज्ञानकी प्राप्तिके प्रसंगसे चारो निकायके देवो द्वारा भक्ति स्वरूप चाँदी, सुवर्ण, रत्नादि युक्त समवसरण* निवेशित किया जाता है। नर-नारी-साधु-साध्वी, देव-देवी स्वरूप बारह पर्षदा* मध्य इस अवसर्पिणी कालके प्रथम केवली-अरिहंत-पैंतीस गुणालंकृत गिरासे भव्य जीवोको भव-निस्तारिणी देशना देते हैं। उस समय ऋषभसेन पुंडरिकादि अनेक राजा-राजकुमारादिने आत्म कल्याणकारी चारित्र अंगीकार किया।

आपने हज़ार वर्ष कम एक लाख पूर्व वर्ष पर्यंत केवली पर्यायमें विचरण करके भव्य जीवोके लिए शिक्षा-दीक्षा और आत्म कल्याणकारी धर्मका प्रादुर्भाव-प्रचलन-प्रसारण किया। आपकी निश्रामे पुंडरिकादि ८४ गणधर*, ८४००० साधु, ब्राह्मी-सुंदरी आदि तीन लाख साध्वियाँ, श्रेयासादि ३,०५,००० श्रावक, सुभद्रादि ५,५४,००० श्राविकारूप चतुर्विध संघने आत्म कल्याण किया।

इस अवसर्पिणीकालके युगलिक धर्म निवारक, प्रथम भूपति, प्रथम साधु, प्रथम ब्रह्मचारी, प्रथम केवली, प्रथम धर्म प्ररूपक, प्रथम तीर्थपति, प्रथम अरिहत श्री ऋषभदेव (श्री आदिनाथजी) महा कृष्णा त्रयोदशीके दिन अष्टापद पर्वतके शिखर पर १०,००० साधुओ के साथ, निर्जल छः उपवास युक्त, अभिजित नक्षत्रमे चंद्रका योग प्राप्त होने पर पल्यंकासनमे विराजित-संसार सागरसे निस्तार करानेवाले-सर्व सांसारिक दुःखोका अन्त करानेवाले-निर्वाणपदको-परमपद-सिद्ध पदको प्राप्त कर सिद्धशिला पर विराजित हुए।

अन्य तीर्थकरोका जीवन चरित्र-(सामान्य परिचय)

प्रथम तीर्थकर श्री आदिनाथजीके निर्वाणानंतर ५० लाख क्रोड सागरोपम मे बहत्तर लाख पूर्व वर्ष न्यून काल शेष रहते हुए द्वितीय तीर्थकर श्री अजितनाथजीका च्यवन हुआ, जन्म हुआ यावत् निर्वाण हुआ। पाँचो कल्याणकका स्वरूप चौबीस तीर्थंकरोंकी तालिका से दृष्टव्य है।

प्रत्येक दो तीर्थंकरोके बीच-अल्पकालीन तीर्थंकरोंका विरह होता है। पूर्व तीर्थंकरके निर्वाण पश्चात् उन्हीका शासनकाल माना जाता है, जब तक परवर्ती तीर्थंकरको केवलज्ञान नही होता है। परवर्ती तीर्थकरके केवलज्ञान-प्राप्तिके पश्चात् उनके तीर्थके आविष्कारसे पूर्व तीर्थंकरका चतुर्विध संघ नूतन तीर्थकरका शासन शिरोमान्य कर लेते हैं। यही क्रम अनादिकालीन अनत चौबीसीके चौबीस तीर्थंकरोमे परम्परासे अबाधित चलता रहता है।

सामान्यतया प्रत्येक तीर्थंकर पूर्वके किसी जन्ममे प्रायः कोईनकोई निमित्त से सम्यक्त्व* की प्राप्ति करते हैं और तीर्थंकर भवकी अपेक्षा पूर्वके तृतीय भवमे '*तीर्थंकर नामकर्म**'

निकाचित• करनेके लिए *"सवि जीव करुं शासन रसी"*-सर्व जीवात्माकी कल्याण कामनाके साथ बीस स्थानक• तपाराधन करते हैं। आयु पूर्ण होने पर शुभ कर्म भोगनेके लिए स्वर्गलोकमे अथवा सम्यक्त्व प्राप्ति पूर्व ही अशुभायुष्य कर्मबंध हो गया हो तो पाप कर्मके फल भोगने हेतु नरकमे जाते हैं। उदा. भगवान श्री महावीरके परमभक्त महाराजा श्रेणिक भावि उत्सर्पिणीकालमे प्रथम अरिहंत होनेवाले हैं-आज रत्नप्रभा• नरकमें अशुभ फल भोगते हैं-

देव या नरकभवका आयुष्य पूर्ण करने पर वहाँसे च्यवकर चौदह स्वप्न सूचित रत्नकुक्षि माताके उदरमे अवतरित होते हैं। गर्भकालमें भी अरिहंतके प्रभावसे माता-पिता-परिवारादिमे सुख-समृद्धि और शुभ भावोंकी वृद्धि होती रहती है। गर्भकाल पूर्ण होने पर सर्व ग्रह, सर्वोच्च स्थान पर आने से, जैसे पूर्व दिशा दिनकरको उदित करती है, वैसे ही माता प्रसव-वेदनाके कष्ट रहित-सुखपूर्वक अर्धरात्रीके समय परम तारक त्रिलोकीनाथको जन्म देती हैं। आपके जन्मके पुण्य-प्रभावसे त्रिलोकके, चौर्यासी लक्ष योनिके सकल जीवोंको सुखाह्लाद का अनुभव होता है। घोरातिघोर अंधकारमय नरकमे भी ज्योतिर्मय उद्योत फैल जाता है।

शिशु परमात्मा के जन्मके प्रभावसे छप्पन दिक्कुमारियो (देवियो) के आसन कंपायमान होनेसे, अवधिज्ञानसे परमात्मा-जन्म जानकर निज-निज स्थानसे जन्मोत्सवके लिए आती हैं; तो चारों निकायके वैमानिकादि चौसठ इन्द्रो सहित सर्व देव सौधर्मेन्द्रके आदेशानुसार मेरु पर्वत पर जिन-जन्मोत्सवके लिए-स्नात्र महोत्सव करनेके लिए विभिन्न तीर्थोंके, क्षीरोदधि आदि समुद्रोसे जल एवं वनोपवनोसे औषधादि-पुष्पादि विभिन्न पूजा सामग्री लेकर आते हैं और मेरु पर्वतकी पांडुकवनकी पांडुकबला नामक सिंहासन रूप स्फटिक शिला पर बैठे हुए सौधर्मेन्द्रके उत्सगमे बिराजमान प्रभुका जन्माभिषेक करते हुए भक्ति करते हैं। पश्चात् प्रातःकाल पुत्र जन्मकी बधाई मिलते ही प्रभुके पिता-नराधिपकी ओरसे नगरमे सर्वत्र-सर्व नगरजनो द्वारा धूमधामसे-आनंदोल्लाससे-जन्मोत्सव मनाया जाता है।

तीन ज्ञान संयुक्त बाल तीर्थंकर शुक्ल पक्षके चंद्रकी भाँति वृद्धिगत होते होते जब यौवनवय-प्राप्त होते हैं तब गुणवान-शीलवान और स्वरूपवान एक या अनेक कन्यारत्नसे पाणिग्रहण करके-भोगावली कर्मको भोगते हुए पुत्रादि परिवार संयुक्त, वैभव विलास युक्त संसारलीलामे जलकमलवत् रमण करते हैं। पिताकी प्रेरणा व आदेशसे राज्यलक्ष्मीकी धुरा वहन करते हुए स्वस्थ और सफल-शांत और स्थिर राज्य संचालन करते हैं।

संसारसे निर्लेप और निर्वेदित चित्तयुक्त रहनेवाले स्वयंका दीक्षाकाल अवधिज्ञानसे जानकर अनुजबंधु या निजांगज-युवराजका राज्याभिषेक करके लोकांतिक देवोंकी *"धर्मतीर्थ प्रवर्तमान करनेकी"* विज्ञप्तिको लक्ष्यमे रखते हुए एक वर्ष पर्यंत-प्रतिदिन एक क्रोड आठ लक्ष

सुवर्ण मुद्राओंका दान करते हैं अर्थात् एक वर्षमे तीनसौ अठ्यासी क्रोड़ अस्सीलाख सुवर्ण मुद्राओंका (वर्तमान कालके हिसाबसे प्रत्येक दिन नवहजार मण सुवर्ण होता है) दान करते हैं। उनकी दानशालासे चार प्रकारका---भोजन-वस्त्र-आभूषण और सुवर्ण मुद्राओंका---दान होता है।[५२] वर्षान्ते सुरासुरेन्द्रों और नरेन्द्रों द्वारा गीत-गान-नृत्यादि से निष्क्रमणोत्सवपूर्वक रत्नशिबिकारूढ होकर नगरीके बाहर उद्यानमें, श्रेष्ठ वृक्षके नीचे वस्त्रालंकारादि सर्व समृद्धि त्यागकर, द्रव्यसे पंचमुष्टि केशलुंचन करके और भावसे विषय-कषाय, राग-द्वेषादि रहित बनकर आत्म-कल्याणकारी भागवती प्रव्रज्या अंगीकार करनेके लिए-अगार से अनगार बननेके लिए---इंद्र प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र ग्रहण कर, सिद्ध परमात्माको नमस्कार करते हुए आजीवन सामायिक व्रत (चारित्र) का उच्चारण-सूत्रपाठ करते है। अतएव चारित्ररूपी रथारूढ होकर कर्मकटकसे युद्ध करके विजयशील बननेके लिए कटिबद्ध होते हैं। तत्काल संयमके सहोदर सदृश ढाईद्वीपके संज्ञी पंचेन्द्रियके मनोगत भाव दर्शानेवाला चतुर्थ मनःपर्यवज्ञान आविर्भूत होता है।

दीक्षानंतर अष्ट प्रवचन माता• धारक, सर्व जीव प्रतिपालक, भारंड तुल्य अप्रमत्त, वीतराग दशामें-निज कर्मोन्मूलनमें वज्र सदृश-परिषह एवं उपसर्गको धैर्यपूर्वक सहते हुए तपाराधना, ध्यानोपासना एवं आत्म साधना करते हुए चार घातीकर्मोंका क्षय होनेसे सम्पूर्ण-अविनाशी-लोकालोक भास्कर-त्रिकालवित् सर्वद्रव्यके सर्व पर्यायोंको हस्तांवलक सदृश जानने-देखनेवाला, अक्रमिक केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करते हैं- सर्वज्ञ बनते हैं ।

देवेन्द्रो और नरेन्द्रों द्वारा केवलज्ञान प्राप्तिके स्वर्णावसरके उपलक्ष्यमे महोत्सव किया जाता है। चार निकायके देवों द्वारा दस हज़ार सोपान युक्त प्रथम चांदीका, पाँच हज़ारसीढीवाला द्वितीय सुवर्णका, पॉच हज़ार पौड़ीयुक्त तृतीय रत्नका-ऐसे तीन गढ और सुवर्ण रत्नमय सिंहासनवाला-एक योजन परिमाणवाले समवसरणकी रचना की जाती है, जिसमें जिनेश्वर '*श्री तीर्थाय नमः*' उच्चारण पूर्वक, पूर्वाभिमुख सिंहासनारूढ होते हैं और व्यंतर देवो द्वारा विकुर्वित अरिहंतके बिंब तीन दिशाओंमें बिराजित किये जाते हैं। ऐसे चारों दिशा स्थित चतुर्मुखसे अरिहंत बारह पर्षदाको उद्‌बोधित करते हुए भव-निस्तारिणी, हित-मित-पथ्य, अमृतधारामय, सूर-लय-बद्ध, पैंतीस गुणालंकृत देशना प्रकाशित करते हैं। वीतराग द्वारा प्रसारित त्रिपदी-"*उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा*" प्राप्त होते ही बीज बुद्धिके स्वामी-गणधर भगवंत वटवृक्ष सदृश-द्वादशांगीकी रचना करते हैं। इस तरह बारह गुणयुक्त, अठारह दोषमुक्त, चौतीस अतिशय अलंकृत, नव स्वर्णकमल पर पादधारी, जघन्यसे क्रोड़ देवोंसे सेव्यमान अरिहंत परमात्मा निज आयुष्य पर्यंत विचरते हुए विश्व कल्याणका ध्वज़ फहराते हैं। प्रत्येक तीर्थंकरके शासनरक्षक यक्ष-यक्षिणी, भक्तजनोकीं मनोकामनायें पूर्ण करते हैं।

आयुष्य पूर्ण होनेके कुछ समय पूर्व संलेषणा रूप अनशन• करते हैं। आयुकालका

अतर्मुहूर्त शेष रहने पर बादर मन-वचन-काय योग और सूक्ष्म मन एवं वचन योग क्रमसे रोध करते हुए शुक्लध्यानको ध्याते हुए निर्वाणकाल पांच ह्रस्वाक्षर अ,ल,इ,ऋ,लृ- उच्चारणकाल पूर्व सूक्ष्मकाय योगका रोध करते हैं अर्थात् मन-वचन-कायाके सूक्ष्म एवं बादर योगोका त्याग करते हुए शुक्लध्यानके चतुर्थपादमे स्थिर बनकर शैलेशीकरण करके अवशिष्ट कर्मोको क्षीण करते हुए, सर्व कर्म रहित होकर मोक्षपद-निर्वाण पदको प्राप्त होते हैं।

चरम तीर्थपति श्री महावीर स्वामी चरित्र -

"वीरः सर्व सुरा सुरेन्द्र महितो, वीरं बुधा संश्रिता. ।

वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्य नमः ।।

वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो ।

वीरे श्री धृति कीर्ति कान्ति निचयः श्री वीर भद्रं दिश ।।"[53]

"*आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः*"- पंक्तिको चरितार्थ करनेवाले और अशुभ कर्मोदयकालमें सहनशीलताका मूर्तिमत स्वरूप, चरम अरिहंत श्री महावीर स्वामी अषाढ शुक्ल षष्ठीको उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रमे चद्रका योग होने पर प्राणत कल्पसे च्यवकर माहणकुंड-ग्राम नामक नगरके ऋषभदत्त ब्राह्मणकी देवानंदा नामक अर्धांगिनीकी कुक्षिमें १४ स्वप्नसे तीर्थंकरपनेको सूचित करते हुए अवतरित हुए। त्रिलोकमे तेज प्रसरा।

आश्चर्यभूत गर्भ परिवर्तन-यह शाश्वत नियम है कि प्रत्येक तीर्थकर क्षत्रियादि उच्च कुलोमे ही जन्म लेते हैं। लेकिन कर्म सिद्धान्तके निश्चित और अनूठे परिपाकका मूर्तिमंत स्वरूप हमे तीर्थपतिका ब्राह्मण कुलमे उत्पन्न होना-आश्चर्यकारी घटना स्वरूप दृष्टिगत होता है। जिसका कारण यह है कि सम्यक्त्व प्राप्तिके पश्चात् तृतीय-मरिचिके भवमें 'अपने प्रथम वासुदेव, चक्रवर्ती और चरम तीर्थकर स्वरूप उत्तमोत्तम पदप्राप्ति करानेवाले उत्कृष्ट पुण्यका और इस अवसर्पिणी कालके प्रथम तीर्थकर (आदिनाथ) प्रथम चक्रवर्ती (भरत महाराजा) और प्रथम वासुदेव (त्रिपृष्ठ)-दादा, पिता और स्वयंको बननेका सौभाग्य--उत्तम कुल प्राप्ति का अत्यंत अभिमान किया,[54] साथ ही साथ बिना आलोचना-प्रायश्चित किये ही वह भव पूर्ण करके अनेक भव भ्रमण प्राप्त किये। उस कुलाभिमानने नीच (याचक) कुलके लिए कर्मबंध करवा दिया, जो तदनन्तर असंख्य क्षल्लुक भव और छः ब्राह्मण भवो मे भुगतते हुए बयासी दिन प्रमाण कर्म शेष रह गया था, इस चरम भवमे उदयको प्राप्त हुआ। फलस्वरूप याचक कुलमें देवानदा माताकी कुक्षिमे बयासी दिन रहना पडा।

नीचकर्मके भुक्तान बाद तुरत ही प्रथम स्वर्गके सौधर्मेन्द्रका सिंहासन कंपायमान हुआ जिससे अवधिज्ञानसे प्रभुको देवानंदाजीकी कुक्षिमे ज्ञात करके तत्क्षण आनंद-प्रमोद एवं विलाससे निवृत्त होकर शक्रस्तव* किया। और अपने कर्तव्यका चिंतन करते हुए अपने हरिणीगमेषी नामक सेवक देवको गर्भ परिवर्तनका आदेश दिया। तदनुसार उस देवने क्षत्रियकुंड ग्राम नगरके राजवी सिद्धार्थकी पटराणी-त्रिशलादेवीकी कुक्षिमे संक्रमित किया[55].

(वर्तमान में भी ओस्ट्रेलियाके एक डोकटरने सफल ओपरेशन करके गर्भ-संक्रमण (परिवर्तन) करके यह प्रक्रियाकी सत्यताकी पुष्टि की है।) गर्भके प्रभाव से माता त्रिशलादेवी चौदह महास्वप्नोंका अर्धनिद्रामे दर्शन करती हैं।[५५]

पंचम दुषमकालका प्रभाव-"मेरे हिलने से माता को कष्ट न हो" ऐसे भक्ति युक्त गर्भस्थ शिशु भगवंतने अंगोपांग गोपन किये-स्थिर हो गए, लेकिन कालप्रभावके कारण सुखप्रद निमित्त किये गए कार्यभी दुःखमय अनुभूति करवाते हैं-इस न्यायसे माताको दुःख होने लगा। गर्भकी अशुभ कल्पनासे शोकाकुल और व्यग्र होकर रुदन करने लगीं, जिससे समस्त परिवार और नगरजन भी व्यथित हुए। अवधिज्ञानसे माताको शोकाकुल जानकर भगवंतने एक उंगली हिलाकर अपनी स्वस्थताका-स्फुरनका अनुभव करवाया और माता-पितादि परिवार, नगरजनों आदिको शोकमुक्त करवाया।

जन्म कल्याणक और जन्मोत्सव-इस तरह अंतिम अरिहंत माता देवानंदाकी कुक्षिमें बयासी दिन एवं माता त्रिशलाकी रत्नकुक्षिमे सार्ध छ मास पले। माता त्रिशलाके शुभ दोहद राजा सिद्धार्थने पूर्ण किये। अन्ततोगत्वा चैत्र शु.१३के दिन प्रत्येक ग्रहकी सर्वोच्च स्थिति होने पर और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रमे चंद्रका योग होने पर सकल जीवराशिके कल्याणकारी और सुखाह्लादप्रद परमात्माका जन्म हुआ। छप्पन दिक्कुमारिकाओने सूतिकर्म संपन्न करके नृत्य-गानादि द्वारा आनंदोल्लास प्रदर्शित करके जन्मोत्सव मनाया।

तदनन्तर पंचरूपधारी सौधर्मेन्द्र द्वारा मेरु शिखर पर प्रभु को जन्माभिषेक निमित्त ले जाया गया। असंख्य देवों द्वारा अत्यत विपुल जलराशिसे मस्तक पर अखंड धारासे अभिषेक किया जाने लगा तब सौधर्मेन्द्र चिंतित हो उठे-- "नवजात शिशु परमात्मा इतने जलराशिको कैसे सहेंगे ?" इस विचार तरगको अवधिज्ञानी भगवंतने निराकृत करने हेतु चरण अंगूठे के स्पर्शमात्रसे अचल मेरु पर्वतको कंपायमान करते हुए आत्माकी अनंत शक्ति और तीर्थकरोंके उत्तमोत्तम पुण्योदय एवं विशिष्ट प्रकारके वीर्यान्तराय कर्मक्षयोपशमसे प्राप्त उत्कृष्ट वीर्य प्रभावका परिचय करवाया।[५७] प्रातःकाल माता-पिता-परिवार-नगरजनो द्वारा बड़े ठाठसे भव्यातिभव्य रूपसे जन्मोत्सव मनाया गया। आपके पुण्य प्रभावसे परिवार एवं नगरजनोंके सुख-समृद्ध-शाति यश आदिकी वृद्धि होनेसे गुण निष्पन्न ऐसा "*वर्धमान*" नामकरण किया गया। यथा-

"करी महोत्सव सिद्धारथ भूप, नाम धरे वर्धमान"-[५८]

बालक्रीडा-वीर उपनाम प्राप्ति- बचपनमे मित्रोके साथ क्रीड़ा करते समय भयंकर महाकाय-सर्प (भोरिंग-जो देवमाया थी) को हाथमे रस्सीकी भाँति निर्भीकतापूर्वक उठाकर दूर रख दिया और साहस एवं वीरताका परिचय करवाया। तदनन्तर खेलमें साथी (देवने) डरावना पिशाचरूप किया तबभी मुष्टि प्रहारसे देवको वश करके, वर्धमान कुमारने उस देवद्वारा "*वीर*" उपनाम प्राप्त किया।

माता-पिता द्वारा मोहवश ज्ञानार्जनके लिए अवधिज्ञानी भगवंतको पाठशाला ले जाया गया जो अयुक्त था। अतएव सौधर्मेन्द्रने ब्राह्मणका रूप धरकर अध्यापकके मनकी शंकाओंकी पृच्छा की, जिनका अवधिज्ञानवंत वीर प्रभुने प्रत्युत्तर रूपसे जो शब्द-पारायण-शब्दानुशासन प्रकट किया वही *"जैनेन्द्र व्याकरण"* के नामसे प्रसिद्ध हुआ।[५९]

यौवनवय सम्प्राप्त परमात्मा-सुवर्णवर्ण, सात हाथ (३२५ से.मी.) अवगाहना, अत्यंत सुंदर-सौष्ठवयुक्त-तेजस्वी तनसे लाभान्वित होनेपर भी अनासक्त एवं निर्मोही भावसे, केवल कर्मोदयके उदय और माता-पिताके अत्याग्रहवश समरवीर भूपतिकी 'यशोदा' नामक कन्यासे पाणिग्रहण करते हैं। भोग-विलास विलसते हुए, परिणाम स्वरूप 'प्रियदर्शना' नामक पुत्रीरत्न की प्राप्ती होती है। माता-पिताके अत्यधिक वात्सल्य-स्नेहवश आपने वैराग्यभाव गोपनीय रखा।

दीक्षाग्रहण- वीतराग श्री वीर प्रभुने अट्ठाईस सालकी आयुमें-मात-पिताके निधन बाद, और ज्येष्ठ बंधु नंदीवर्धनके निर्बन्धसे भाव-यत्यालंकृत, नित्य ब्रह्मचर्य धारीक, विशुद्ध ध्यान तत्पर, कायोत्सर्ग* लीन, प्रासुक एवं एषनीय अन्नजलसे प्राणवृत्ति करते हुए एक वर्ष व्यतीत किया तब नव लोकान्तिक देवोंकी तीर्थ प्रवर्तमान करनेकी विनतीको लक्ष्यकर, तीर्थंकरोंके आचार रूप वार्षिक दान देकर तीस वर्षकी पूर्ण युवावस्थामें दीक्षाग्रहण हेतु *"चन्द्रप्रभा"* नामक सुशोभित शिबिकारूढ़ होकर नंदिवर्धन नृपादि जन समुदाय एवं सौधर्मेन्द्रादि देवगण द्वारा कराये गए निष्क्रमणोत्सव युक्त ज्ञातखंड-उद्यानमें अशोकवृक्ष नीचे सर्व वस्त्रालंकार त्यागकर और देव-प्रदत्त देव-दूष्य वस्त्र धारण कर, द्रव्यसे पंचमुष्टि केशलुंचन कर, और भावसे राग-द्वेषादिसे विमुक्त-मुंड बनकर मृ.कृ.१०को हस्तोत्तरा नक्षत्रमें चंद्रका योग प्राप्त होनेपर दो उपवासके तप युक्त *सर्वविरति-चारित्र* एकाकीने ग्रहण किया। तत्क्षण चतुर्थ *मनः पर्यवज्ञान* प्रगट हुआ। (यह ज्ञान सर्व विरतिधरको ही होता है) [६०]

कैवल्य लाभ-परमयोगी, अत्यंत वाचंयम, तीन योग नियंत्रक, निरापवाद-उत्कट-तीव्र चारित्रधारी, निर्निमेष आत्म-ध्यान सेवी, बाईस परिषह और (देव-दानव-मानव-तिर्यंचकृत) भयंकर उसर्गोको[६१] सहते हुए, उत्कृष्ट अहिंसा-संयम-तप रूप धर्म साधक, असंग होकर, धर्मध्यान-शुक्लध्यान* धारारूढ सार्ध बारह वर्षमें ३४९ दिन ही पारणा (एकासन*) करके आहार ग्रहण करनेवाले, शेष दिन निर्जल उपवासधारी; उग्र ध्यान रूप अग्नि कसौटी पर आत्माको कसके कर्म निर्जराके सफल यज्ञकी उपासना करते करते पृथ्वीतल पर विचरते हुए, ऋजुवालुका नदी-तटके, जृंभक गाँव बाहर, श्यामाक नामक गृहस्थके खेतमें 'अस्पष्ट' नामक व्यंतरके चैत्यके पास शाल वृक्षके नीचे, दो उपवास युक्त उत्कटिक आसनसे आतापना लेते हुए, शुक्लध्यान मग्न-क्षपक श्रेणि* पर आरोहित-चार घनघातीकर्म क्षय करके वै.शु. दसमीको शामके चतुर्थ प्रहरमें चंद्रका हस्तोत्तरा नक्षत्रमें योग होने पर लोकालोक प्रकाशक, त्रिकालवित्, सकल संशय विनाशक वरकेवलज्ञान-वरकेवलदर्शनसे लाभान्वित हुए। सर्व जीवोंको हर्षोल्लास हुआ

और देव-देवियों द्वारा बडे ठाठसे कैवल्य-महोत्सव मनाया गया।

अभावित पर्षदा और तीर्थ स्थापना-देवोने रजत-सुवर्ण-रत्नमय तीन प्राकार-युक्त, रत्नमय सिंहासनालंकृत समवसरणकी रचना की। विरति परिणामके अभावज्ञाता-सर्वज्ञ-देवाधिदेवने तीर्थंकर नामकर्म-भुक्ति के लक्ष्यसे और आचार निर्वाहके कारण देशना प्रवाह बहाया जिससे यह आश्चर्य घटित हुआ कि सर्व तीर्थंकरकी प्रथम देशना सुनते ही भव्य नर-नारी भवनिर्वेद प्राप्त होनेसे सर्वविरति या देशविरति यथाशकित ग्रहण करते हैं और तीर्थपति तीर्थकी स्थापना करते हैं. जबकि चरम तीर्थंकर भगवान महावीरस्वामीकी आद्य देशनामें तथाभावयोग्य नर-नारीके अभावसे अथवा अगम्यकारणवश किसीको विरति परिणाम नहीं हुए, न किसीने विरतिधर्म अंगीकार किया, अतएव तीर्थ स्थापना हो न सकी अर्थात् प्रथम देशना निष्फल हुइ।[63] देशना समाप्ति पश्चात् श्री वीर प्रभुने लाभालाभके कारण विहार कर अपापापुरीमें पदार्पण किया। देव विरचित समवसरणमें देशना प्रारंभ हुई। उस समय अपापानगरीके ब्राह्मण सोमिल द्वारा आयोजित यज्ञमे आमंत्रित, ४४०० शिष्य परिवारवाले विचक्षण-विद्वान ग्यारह द्विज, प्रभुकी सर्वज्ञतामे शंकित होते हुए वाद करनेके लिए उद्यत हुए। भ महावीरने उनकी प्रत्येककी शंकाओका बिना पूछे ही सत्योक्ति युक्त वेदवाक्योंके अवलंबनसे ही समाधान करने पर इन्द्रभूति आदि ग्यारह द्विजोने सर्वज्ञताके झूठे गर्वको त्यागकर भगवंतका शिष्यत्व अंगीकार किया। परमात्मा वीरने "त्रिपदी" प्रदान की, जिसके अवलंबनसे द्वादशांगी की रचना की गई। अतएव जगद्गुरु भ. महावीरने '*गणधरपदप्रदान*' रूप वासनिक्षेप किया, और द्रव्य-गुण पर्यायसे तीर्थकी अनुज्ञा प्रदान की। चंदनबालादि अनेक कन्या एवं नारीवृंद को दीक्षा प्रदान कर साध्वीपदका वासनिक्षेप किया। हज़ारो नरनारियोने देशविरति (श्रावक) धर्म अंगीकृत करके आत्मकल्याण पथ पर पदार्पण किया। इस तरह चतुर्विध संघ स्थापित हुआ।

केवलीपर्याय--विचरण कालमे श्रेणिक, कुणिक, अभयकुमार, आर्द्रकुमार, मेघकुमार, नंदिषेण नृपति चेटक, और उसकी सुज्येष्ठा-चिल्लणादि सात बेटियाँ, सुलसा, अंबड परिव्राजक, ऋषभदत्त-देवानंदा, प्रियदर्शना-जमालि, आनद-शिवा, कामदेव-भद्रा, चुलनीपिता-श्यामा, सुरादेव-धन्या, चुल्लशतक-बहुला, कुंडकोणिक-पुष्पा, शब्दालपुत्र-अग्निमित्रा, महाशतक-रेवती, नंदिनीपिता-अश्विनी, लांतकपिता-फाल्गुनी, मृगावती, प्रसन्नचंद्र, दशार्णभद्र, शालिभद्र साल-महासाल, धन्य, रोहिणेय चोर, खूनी दृढप्रहारी, अर्जुनमाली, सुदर्शन श्रेष्ठि, उदायन राजर्षि, आदि अनेक भव्यात्माओने आपकी शरण ग्रहण करके, आपके चरण चिह्नो पर चलकर आत्मकल्याण--अपवर्ग या स्वर्गादिकी उत्तमोत्म गतियोके लाभकी प्राप्ति की है।

इस अवसर्पिणी कालमे गर्भहरण, चमरेन्द्रका उत्पादादि दस आश्चर्यकारी* प्रसंग प्राप्त होते है, जो असख्य कालचक्र व्यतीत होने पर प्रादुर्भूत होते हैं। सामान्यतया केवली पर्यायावस्थामे 'अशाता वेदनीय कर्म*का' उदय नही होता है, लेकिन आपके कैवल्य-प्राप्ति पश्चात् आपसे ही प्राप्त

तेजोलेश्या सिद्धिका, आपके छद्मस्थकालमें अपने आप शिष्यत्व अंगीकार करलेनेवाले 'गोशाला' ने, आप पर ही क्रोधमें आकर प्रयोग किया, जिससे आपको छ मास पर्यंत खून मिश्रित शौच और पित्तज्वरकी पीडा हुई। एक आश्चर्यकारी घटना और भी घटित हुई। स्वर्गलोकके देव अपने मूल रूपमें कभी तिर्च्छालोकमें नहीं आते, लेकिन, कौशाम्बी नगरीकी पर्षदामें सूर्य-चंद्र-मूल (शाश्वत) विमानमें आये और धर्मदेशना श्रवण की।

प्रभु वीरके शासनमें ही गोशालक, जमालि आदि निह्नव*-प्रत्यनीक* हुए, जिन्होंने सर्वज्ञ (वीतराग)-वाणी विरुद्ध मनस्वी-मिथ्या-काल्पनिक धर्म प्ररूपणा-प्रचार-प्रसार अपनी कुबुद्धिकी मिथ्या धारणा पर निर्भर होकर, मिथ्यात्व कर्मके उदयसे किया।

निर्वाणकाल-इस प्रकार तीस साल गृहवास सार्ध बारह वर्ष छद्मस्थावस्था-साधनाकाल ओर सार्ध उनतीस वर्ष केवली पर्याय-कुल बहत्तर सालकी आयु संपन्न करके सर्व तीर्थंकर सदृश बादर और सूक्ष्म तीनो योग-निरोध ओर शैलेशीकरण करके, 'अव्यभिचारी समुच्छिन्न किया* नामक शुकल ध्यानके चतुर्थ पाद पर स्थित (सर्व कर्मक्षयसे) यथात्मस्वभाव, ऋजुगतिसे उर्ध्वगमन करके कार्तिक वदि अमावास्याकी अर्धरात्री व्यतीत होने पर सर्वार्थसिद्ध मुहूर्त में चंद्रका स्वाति नक्षत्रमें योग प्राप्त होते ही निर्जल दो उपवास युक्त, पर्यंकासन स्थित, पावापुरीमें हस्तिपाल राजनकी सभामें अठारह देशके राजाओं सहित बारह पर्षदा मध्य अखंड सोलह प्रहर (४८ घंटे) तक निरन्तर देशना प्रवाह प्रवाहित करते करते चरम तीर्थपति श्री महावीर स्वामीने परम पद की प्राप्ति की-सिद्धशिला पर सादि अनंत स्थिति प्राप्त की। [६४]

भगवान महावीरका शासन (सिद्धान्त एवं व्यवहारका समन्वय)- भगवान महावीरने आचारमें अहिंसा (उपलक्षणसे पंचमहाव्रत) ओर विचारमें अनेकान्त, स्याद्वाद और सापेक्षवादकी अनुपम एवं अद्वितीय भेंट विश्वको दी है। विश्व वत्सल परमात्मा प्ररूपित यह अनूठी धर्मदेनको आपके अनुयायियों द्वारा ज्ञान-ध्यान, तप,-जप, साधना-उपासना, निःस्पृहता-परोपकारिता-सरलता, तर्क-प्राविण्यादि द्वारा ज्ञात करके, अनुप्रेक्षित करके; अनुभूत करके; और अमारि प्रवर्तन, अनुकंपादि क्रिया स्वरूप एवं त्याग-वैराग्यके उपदेश स्वरूप अन्यको ज्ञात, अनुप्रेक्षित, अनुभूत करवाके यथोचित-यथाशक्ति सातक्षेत्रकी-जो रत्नत्रयीका प्रतिनिधित्व करते हैं-पुष्टि की। परिणामतः जैनधर्म अद्यापि पर्यंत संपूर्ण-अखंड-अक्षुण्ण-अपरिवर्तित यथास्थित कर्मनिर्जराके हेतुभूत सिद्ध हुआ है ।

जिन शासनके स्वर्णाक्षरी पृष्ठों पर दृष्टि स्थिर करने पर दृष्टिपथमें उतर आती हैं-अपनी दिव्य प्रतिभासे पत्थरको सुवर्णमय बनानेवाले *पूर्वाचार्यों*; न्यायशास्त्रके उत्तमोत्तम एवं अनन्य ग्रन्थों (द्वादशार नयचक्रादि जैसे) के रचयिता *सूक्ष्म बुद्धिमान तार्किकाचार्यों*; एक श्लोकके अष्टलक्ष विभिन्न अर्थ होते हो ऐसे *अष्टलक्षी* और जिनमे एक श्लोकके सात अर्थ करके सात तीर्थंकरोंके जीवन चरित्रका निरूपण होता हो ऐसे *सप्तसंधान एवं द्वयाश्रय काव्योंके रचयिता श्रेष्ठ कवियों*; वादमें वाक्यका प्रारम्भ स्वरसे न हों-ऐसी विचित्र शर्तोंके साथ वाद करनेवाले असाधारण बुद्धि वैभव

युक्त *अजेय वादियो*, वीणावादन करते करते तीर्थंकरनामोपार्जन (पुण्योपार्जन) करनेवाले *कलाकार उपासकों* कामदेवके गृहमे (वेश्याके घर) वास करके उसके (कामके) अस्तित्वको ही धराशायी करनेवाले *आदर्श-कामविजेता ब्रह्मचारियों*; नृत्य करते या नाटकके पात्राभिनय करते करते केवलज्ञान संप्राप्त करनेवाले *कलाविज्ञों*; भोजन करते, शृंगार करते या लग्न मंडपमें विवाह करते करते केलज्ञान हाँसिल करनेवाले *निर्मोहियों*, पलनेमे झूलते झूलते ग्यारह अंगका अभ्यास करनेवाले *अद्भूत प्रज्ञावान बालकों* की पंक्तियाँ।[५५].

इनके द्वारा जिनेश्वरोपदिष्ट विविध प्रकारसे धर्मकी आराधना प्रवाहित हुई-यथा-

एकविध धर्म- स्यात् से अस्यात् (आंशिक मत्यादि ज्ञानसे केवलज्ञान-केवलदर्शनरूप)की आराधना और अनेकान्तसे एकान्तकी उपासना, अर्थात् वीतराग भावसे एकमात्र कर्मक्षयके लक्ष्यरूप एकान्तिक मोक्षमार्गकी आराधना-साधना।

द्विविधधर्म- (१) श्रुतधर्म-(२) चारित्र धर्म (i) श्रुतधर्म--श्रुतधर्ममें रत्नत्रयीके दो अंग समाविष्ट होते है। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान। मनुष्यादि चार गति, धर्मास्तिकायादि षट्द्रव्य, एकेन्द्रियादि षट्काय, कृष्णादि षट् लेश्या, वैशेषिकादि षट् दर्शन, जीवाजीवादि नवतत्त्व, अरिहंतादि नवपद, चौदह गुण स्थानक, असंख्य योजन प्रमाण चौदह राजलोक एवं अनंत अलोकाकाशका स्वरूप, आत्मविज्ञान एवं कर्मविज्ञान, जीव विज्ञान एवं पुद्गलादि अजीव विज्ञान, पदार्थ विज्ञान और शरीर विज्ञान आयुर्वेद एवं ज्योतिष, इतिहास-भूगोल-गणित, राजनीति एवं समाजनीति आदि अनेकानेक द्रव्यानुयोग और गणितानुयोगको सरल व स्पष्ट रूपेण समझानेवाला बोधप्रद कथानुयोगका निरूपण-जिसे प्रत्यक्ष एवं परोक्षादि प्रमाण; 'स्यात्' युक्त सप्तभंगी-स्याद्वाद, सप्तनय भंग समन्वित अनेकान्तवाद, नामादि चार निक्षेपासे स्पष्ट किया गया है। इसे सम्यक् रूपसे ज्ञात करना यह सम्यक् ज्ञान और यही ज्ञात किये ज्ञानको संपूर्णतया सम्यक् श्रद्धासे हृदयगम करना, आत्मसात करना-निःशंक सद्दहणा करना यह है सम्यक् दर्शन ।

(ii) चारित्रधर्म-चारित्र धर्मके दो भेद है-सर्वविरति (साधुधर्म), देशविरति (श्रावक धर्म)। सत्रह भेदसे संयम; दशविध यतिधर्म; (केवल उदर पूर्त्यार्थ-भ्रमर रसग्रहण-वृत्तिसदृश) दोष रहित आहार गवेषणा; नवकल्पी विहार; केशलुंचन, धर्मोपदेश प्रदान; प्रतिदिन पाँच प्रहर (१५ घंटे) आत्मबोधकारक, कर्म निर्जरा प्रधान स्वाध्याय, स्वावलंबन, सहनशीलता, स्वात्माभिमुखताके सहारे स्वपरोपकारार्थ एवं अनुभवज्ञान-विभिन्न भाषाज्ञानादि उपार्जनार्थ तीर्थाटन करते हुए क्षेत्र-स्थान या व्यक्तिके प्रति ममत्व भावसे पर होकर आत्मगंगाके निर्मलत्व हेतु बहते पानी सदृश पैदल विहार करना; विशिष्ट दिनचर्या; मृत्युभी महोत्सवके समान अर्थात् दैहिक अवसानको 'जीर्ण वस्त्र त्याग' सदृश अथवा 'नूतन वस्त्र धरने' समान आनंद-मंगल अवसर माना जाय-इन लक्षणो युक्त-पापसे पूर्णतया निर्वृत्ति रूप साधु धर्म है । पाप प्रवृत्तिसे आंशिक विरमण रूप आत्म कल्याणकारी श्रावकधर्म-देशविरति धर्म होता है। श्रावक धर्मके दो भेद-**A.** श्रुतधर्ममे संपूर्ण श्रद्धावान् लेकिन अविरति कर्मोदय(चारित्र मोहनीय

कर्मोदयसे) प्रत्यारव्यानादि नही कर सकते लेकिन आठ प्रकारके दर्शनाचारोका सपूर्ण निरतिचार पालन करनेवाले **अविरति सम्यक् दृष्टि श्रावक** और (ii) जघन्य-मध्यम-उत्तम-तीन भेदवाले **देशविरति श्रावक।** जघन्य---ऐसे श्रावकोंमें अविरति सम्यक् दृष्टि श्रावकके गुण विद्यमान होते ही है, इसके अतिरिक्त स्थूल प्राणातिपातसे विरमण, अभक्ष्य भक्षणका त्याग और नवकारशी आदि प्रत्याख्यान करनेवाले श्रावक आते है। मध्यम--इनसे अधिक विकसित गुणोके धारक, धर्मयोग्य षट्कर्म--- 'देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दानं', छः आवश्यक--- 'सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्यारव्यान'; आदि नित्य करें और श्रावक करणीके प्राण आधारस्तंभ बारह व्रत- 'पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत'--जिन्होंने अंगीकार किये हैं ऐसे श्रावक मध्यम कहलाते हैं और उत्तम---इनसे एक कदम आगे-सचित आहार त्यागी, एकबार भोजनकर्ता (एकासन कर्ता), संपूर्ण-त्रिविध ब्रह्मचर्य पालक, और श्रावक योग्य कर्तव्य अहर्निश निष्ठापूर्वक पालन करनेवाले श्रावक उत्तम कहलाते हैं।

त्रिविधधर्म- सम्यक् रत्नत्रयी (ज्ञान-दर्शन-चारित्र)की आराधना रूप; अथवा नवपद समाहित अरिहंत-सिद्ध रूप सुदेव, आचर्योपाध्यायसाधु रूप सुगुरु, और सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप सुधर्म---तत्वत्रयीकी साधना स्वरूप अथवा पूर्वाचार्य निर्दिष्ट-अहिंसा, संयम, तपरूप मंगल अनुष्ठान रूप ये त्रिविध त्रिविध आराधना-साधना-उपासना।

चतुर्विध धर्म- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावाश्रित-दान, शील, तप, भाव रूप आराधना अथवा एकांत कर्मनिर्जराकारक धर्म-अर्थ-काम- मोक्षरूप आराधना धर्म। क्रोधादि चार कषाय के निग्रह करने हेतु-चार सज्ञा के त्यागपूर्वक चार प्रकारके धर्मध्यानकी साधनारूप धर्म।

पंचविध- अहिंसा-अमृषा (अनृत त्याग)अस्तेय-अब्रह्म त्याग-अपरिग्रह रूप पाँच व्रतोंकी आराधना अथवा परम और चरम इष्ट फल प्रदाता-अरिहत, सिद्ध, सूरि, पाठक, साधु पद स्थित पंच परमेष्ठि भगवंतकी आराधना: अथवा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार रूप पंचाचारकी साधना: अथवा ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण, पारिष्ठापनिका-समितिकी 'उपासना रूप पालना: आदि अनेक आराधना-साधना-उपासनाकी प्ररूपणा की है।

इस प्रकार विविध आराधना-साधना करके, योग-उपयोग युक्त, अप्रमत्त भावसे अनंतानंत कर्मक्षयकी हेतुभूत अनुपमेय आराधनाके बल पर आस्थाके आगार ऐसे अणगार, चौदह गुणस्थानक-मिथ्यादृष्टि, सास्वादन, सम्यक-मिथ्या दृष्टि (मिश्र), अविरति सम्यक् दृष्टि, देशविरति, प्रमत्त सर्वविरति, अप्रमत्त सर्वविरति, अपूर्वकरण (निर्वृत्ति बादर), अनिर्वृत्ति बादर, सूक्ष्म सपराय, उपशांत मोह, क्षीण कषाय, सयोग केवली, अयोग केवली---पर क्रमशः आरोहण करते हुए, आत्मलक्षी विकास प्राप्त करते हुए अंततोगत्वा यह जीवात्मा सर्व कर्म रहितावस्था-मोक्षानंदका आह्लाद प्राप्त करता है-सिद्धशिला पर सिद्धिपद प्राप्तिका अधिकारी बनता है, जो संसारमें आत्माकी चरम एवं परम अवस्था है। अथवा कहो कि आत्माका सत्य, शिवकर, सुदर स्वरूप है-उत्तमोत्तम प्राप्ति है।

यह तो हुआ पारलौकिक-आध्यात्मिक उन्नतिके साधना-पथका आलेखन। लेकिन, वीतराग श्री महावीर केवल आदर्शवादी ी नही थे; उनके सर्वांगिण केवलज्ञानमें व्यवहारभी तादृश था। यही कारण है कि उनके उद्बोधनोमे निश्चयके साथ व्यवहारका, परलोकके साथ इहलोकका, निःकर्मा आत्म स्वरूपके साथ सकर्मा आत्माके रूपका, निजात्माकी पूर्णानंद एवं चिदानंद मस्तीके साथ पुद्गलानंदके स्वरूपका, अध्यात्मके साथ भौतिकता-भोग विलासका यथास्थित अवलोकित निरूपण-चक्षुगोचर होता है।

सिद्धान्त संग्रह- भ. महावीरकी अर्थयुक्त गंगोत्रीके अमृतमय वाक्प्रवाहको गणधर भगवंतोने सूत्र रूप बांधोंमें संग्रहित किया और परमात्माकी अनुज्ञा प्राप्त, वही गंगोत्री शुद्ध और सहेतुक बन गई-जो कंठाग्र (मुखपाठ) पठन-पाठन द्वारा अवधारित होती रही। आगे चलकर नवम-दसम शताब्दि पश्चात् लिपिबद्ध हुई एवं पंचांगी* स्वरूप पाकर मानो अत्यंत जाज्वल्यमान-तेजस्वी विद्युत्किरण सदृश स्पष्ट विस्तृत और बाल अभ्यासीके अभ्यास योग्य बनी। तदनंतर पूर्वधर श्री आर्यरक्षित सूरिजी म.के पृथक् अनुयोग व्यवस्थापन द्वारा विशिष्ट स्पष्टीकरण और सरलता पा गई। जिसमें जैन-जैनेतरके लिए भूत-भावि-वर्तमान, द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, आराधना-विराधना का स्वरूप, आत्माके जीवसे शीव तक चौदह गुणस्थानक क्रमारोहणकी समुचित व्यवस्थाका एवं अन्य विभिन्न प्रकारके अनेक विषयोंका पर्याप्त पथप्रदर्शन प्राप्त होता है।

जिन शासनमें गुणी (व्यक्ति) पूजाको स्थान नहीं है क्योंकि व्यक्ति विशेषकी पूजासे दृष्टिराग आविर्भूत होता है-जो कर्मबंधका मुख्य कारण है,जबकि गुणपूजासे गुणानुरागिता प्रगटती है। प्रत्युत्पन्न गुणानुरागसे वीतरागता उद्भवित होती है और कर्म-निर्जराका भी साधन बनती है जो अंतिम साध्य-मोक्ष प्रप्तिकी सहायक है। ऐसे ही सर्वज्ञ-केवलज्ञान-गुणधारी, अनंत पदार्थ विषयोंका संपूर्ण-सर्वांग-समीचीन-सार्थक उद्घाटन करते हैं। उन्हीं उद्घाटित ज्ञानकी, उनके और अनुवर्ती आचार्यादि-मुनि भगवंतों द्वारा प्ररूपणा की जाती है।

जैन सिद्धान्तों एवं क्रियाधर्मका विहंगावलोकन करानेवाले उपरोक्त विवरणसे स्पष्ट होता है कि मर्मग्राही और तलस्पर्शी ज्ञानार्जन करके परहिताय प्रदान करनेवाले एवं पशु-पक्षी या सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव-जंतु आदि जीव मात्रकी रक्षाके लिए प्राण न्योच्छावर करनेवाले, मरणान्त कष्ट दाताको भी कर्म निर्जराके परमोपकारी साथी माननेवाले; अलौकिक प्रज्ञा-प्रतिभाके स्वामी फिरभी सहज निरभिमान स्वभावी; सर्वदा-सर्वत्र-सर्वको सुलभ, सुगम और सानुकूल जैनाचार्योंकी समस्त जीवन वृत्ति-प्रवृत्ति सकल श्री जैन संघ और विशाल जन समुदाय के लिए उपकारी एवं सर्वजन-सर्वजीव हितकारी ही होती है। उनकी जीवन शैली ही अत्यंत प्रभावशाली होती है। उनके कदम-कदम पर प्रत्येक आचार-विचारमे रत्नत्रयीका ही प्राधान्य होता है। सत्य ज्ञानार्जन पश्चात् उसका स्वीकार और असत्यका प्रतीकार करनेमे नित्य अग्रसर होनेवाले ये महामुनि महान क्रान्तिकारी सदृश अपने बुलंद व्यक्तित्व एवं प्रभाविक चरित्रसे ही जनसमूहका सफल और सक्षम नेतृत्व कर सकते हैं और स्व-पर आत्म कल्याण कर सकते हैं। उनको अलग रूपसे व्यवहार प्ररूपणाकी आवश्यकता ही नही होती। उनका

आचरण ही उपदेश होता है। जैसे महात्माजीने गुड न खानेका आचरण करके बालकको दिखाया तब उस बालकने भी आप ही गुड खाना छोड दिया। वैसे ही उन महापुरुषोंका आचरण ही भक्तगण पर प्रभाव छोड जाता है और जन समुदाय उनका अनुसरण करने लग जाता हैं।

सिद्धान्त एवं व्यवहारका समन्वय - भगवान श्री महावीर स्वामीके सिद्धान्तो की उपयोगिता सर्वदेशीय, सर्वदा, समान रूपसे अनुभव होती है, क्योकि वे सिद्धान्त-शाश्वत सत्यता समेटे हुए हैं-सर्वज्ञके मुखारविंदकी सुवास सर्वके लिए समान सुखदायी होती है। तत्कालीन समाजको वे सिद्धान्त जितने उपयोगी थे और हो सके, शायद इससे कई गुणा प्रबलतम आवश्यकता साम्प्रतकालमे महसूस हो रही है। -यथा

संसारभरके जीवोको मरण भयसे मुक्त करा सकता है 'अहिंसा'का अमोघ अस्त्र;

विश्वासका वातावरण वितरित हो सकता है 'अनृत त्याग' के एलान से;

समस्त दुनिया की 'संपत्ति-सुरक्षा'की चिताकी चिनगारी से लगी अशांतिकी आग बुझ सकती है भ महावीर के 'अस्तेय'के आदेश पालनसे;

मानवोंके तन-मनके अमर्याद स्वच्छंदाचार और व्यभिचारको अंकुशित कर सकता है अब्रह्मका सपूर्ण त्याग या स्वदारा (स्वपत्नी) संतोषव्रतका अंगीकरण;

अखिल विश्वकी अपरिमित आवश्यकताओंको परिमित बनाकर, लोभ-लालचसे मुक्त एवं धनवानोको दीन-दुःखी के बेली बननेका सौभाग्य सम्पन्न कराता है-अपरिग्रह का सिद्धान्त या परिग्रहके परिमाण की प्ररूपणा।

अग्रोल्लिखित अनुसार मानसिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तनावों से आराम प्रदाता है अनेकान्तवाद-स्याद्वाद-सापेक्षवाद का व्यावहारिक उपयोग-जिससे मिल सकता है अनेक क्लिष्ट उलझनोका यथाशीघ्र-सुखद-सतोषप्रद समाधान और विश्व शान्ति का रामबाण औषध।

इस तरह सर्वाग-सम्पूर्ण-विश्व धर्म के सिद्धान्तोको जीवन मूल्य बनाकर आचरण करके कल्याण साधना हो यही जैन धर्मकी आत्मा की आवाज़ है।

अब ऐसी कल्याण साधना करनेवाले महानुभावोंका परिचय प्राप्त करे।

`भगवान महावीर स्वामीकी शिष्य पट्टावली (परम्परा):-[६६]

वीतराग-देवाधिदेव श्री महावीर स्वामीके केवलज्ञान प्राप्ति पश्चात् सर्वज्ञ भगवंतने चतुर्विध श्री संघ की स्थापना की। 'त्रिपदी'के प्राप्त होने पर बीजसे वटवृक्षकी भाँति बीज़ बुद्धिधारी उनके ग्यारह मुख्य शिष्य-गणधर-और अन्य चौदह हजार साधुओके समुदायको भिन्न भिन्न नव विभाग-गण (एक ही गुरुके पास समान वाचना-अभ्यास-प्राप्त करनेवाला शिष्य समूह) मे विभक्त किया गया। अन्ततोगत्वा भगवान महावीर स्वामीके जीवनकालमे ही, इन्द्रभूति गौतम और सुधर्मास्वामीको छोडकर शेष नव गणधर, सर्व कर्मक्षय करके अजर, अमर, अक्षय ऐसे सिद्धपद प्राप्त हुए-मोक्षगामी बने। इसलिए उन सबसे वाचना (शिक्षण) प्राप्त करनेवाले सर्व मुनियोकी जिम्मेवारी पंचम गणधर श्री

सुधर्मा स्वामीके पास आयी जो उन्होंने केवलज्ञान प्राप्ति तक निभायी। केवली पर्यायमें जम्बूस्वामीको अपना उत्तराधिकारी बनाकर आयुष्य पूर्ण होते ही मोक्ष पाया। उन्हींकी परम्परा अद्यापि अक्षुण्ण रूपसे चली आ रही है।

श्री सुधर्मा स्वामी---वैशाली के कोल्लाग सन्निवेश के अग्निवैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण पिता धम्मिल और माता भद्दिलाके घर वीर सं.-पूर्व ८०में उनका जन्म हुआ। अप्रतिम मेधा और पारदर्शी प्रज्ञा के स्वामी, विनम्र और विनयी सत्य शोधकने परमात्माकी वाणीमें सत्यका चमकार पाया और तीस वर्षकी आयुमें शिष्यत्व स्वीकार किया-भगवंतके अंतेवासी बनकर रहे। बानवे वर्षकी आयुमें केवलज्ञान प्राप्त करके वी.सं. २०मे मोक्ष प्राप्त किया। बीज बुद्धिके स्वामी सुधर्माजीने दीक्षोपरान्त द्वादशांगी और चौदह पूर्वकी रचना करके गणधर पद प्राप्त किया था एवं अपने आयुष्यकी परिसमाप्ति पूर्वही जम्बूस्वामीको उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था।

श्री जम्बू स्वामी--- राजगृहीके काश्यप गोत्रीय वैश्य कुलवाले नगर श्रेष्ठि ऋषभदत्त और धारिणीके अपत्य तेजस्वी रूप सम्पन्न-चरम केवली जम्बूस्वामीका जन्म वी.सं पूर्व १६में हुआ। सुधर्मा स्वामीसे प्रतिबोधित-ब्रह्मचर्य व्रतधारी जम्बूस्वामीने माता-पिताके अत्याग्रह और प्रसन्नताके कारण आठ श्रेष्ठि कन्याओंसे शादी करके प्रथम रात्रिमें ही वैराग्यमयी गिरासे उनको प्रतिबोधित करके आठों पत्नी, उनके माता-पिता और ५०० चोरके स्वामी प्रभवादिके साथ---५२६-के साथ चारित्र ग्रहण किया। आगमाभ्यास-पूर्वाभ्यास करके-उत्कृष्ट आराधनासे घातीकर्म क्षय करके चरम केवली बने और ८० वर्षकी आयु पूर्ण करके वी.सं. ६४में निर्वाणपदको प्राप्त हुए। चरमनिर्वाणी बने।

प्रभव स्वामी--प्रथम श्रुतकेवली-'' ५०० चोरोके अधिपति कात्यायन गोत्रीय-क्षत्रिय कुलीन विंध्यनरेशके पुत्र आर्य प्रभव, जम्बूस्वामीसे प्रतिबोधित होकर तीस सालकी आयुमें श्री जम्बूके साथ ही दीक्षित हुए वीर सं. १, और विद्याध्ययन करके प्रथम श्रुतकेवली बने। उन्होने जम्बूस्वामीके निर्वाण पश्चात् वी.सं. ६४में आचार्यपदका उत्तरदायित्व स्वीकार किया और १०५ वर्षकी आयु पूर्ण करके वी.सं. ७५में शय्यंभव सूरि महाराजको पट्टका उत्तरदायित्व सौंपकर स्वर्गवासी बने।

आर्य शय्यंभव सूरि--अहंकारी, प्रकांड-पंडित श्री शय्यंभवका जन्म राजगृहीके वत्स गोत्रीय ब्राह्मण कुलमें हुआ-वी.सं.३६। यज्ञ करते समय जैन साधुसे प्रतिबोधित होने पर प्रभव स्वामीसे सत्यज्ञान प्राप्त होते ही जैनत्वका निर्भीकतासे स्वीकार कर मनकपिता वी.सं. ६४में जैन मुनि बने और चौदह पूर्वी-श्रुतकेवली होकर वी सं. ७५में आचार्यपद पाया। ६२ वर्षकी आयु पूर्ण करके वी.सं.९८में स्वर्गवासी हुए। अल्पायुष्क पुत्र मनकको चारित्र प्रदान करके श्रुतसागरको 'दस वैकालिक' गागरमें समाविष्ट करके सुंदर आराधना करवायी थी। इन्होंने अनेक ब्राह्मणोंको आध्यात्मिकताका सम्यक् स्वरूप समझाकर जैनानुकूल बनाकर जिन शासनकी महती प्रभावना की।

आर्य यशोभद्र सूरि--तुंगीकायन गोत्रीय कर्मकांडी ब्राह्मण कुलमें यशोभद्रजीका जन्म वी. सं. ६२में हुआ। आ. शय्यंभव सूरिजीकी प्रेरक पियूषवाणीसे प्रतिबोधित होकर वी.सं.८४में दीक्षा अंगीकार की। श्रुताभ्यासानन्तर चौदह पूर्वी होकर वी.सं.९८में आचार्यपद प्राप्त किया। अपने गुरुकी

भाँति इन्होंने भी ब्राह्मणोंको अध्यात्मोन्मुख बनाकर याज्ञिकी हिंसासे मुक्त किया, जिससे यज्ञमें हिंसाका स्थान अहिंसाने लिया। आर्य संभूति और आर्य भद्रबाहु स्वामीको शासनकी बागडोर सौंपकर ८६ सालकी आयुमें वी.सं.१४८में ५० वर्ष तक युग प्रधानपद धारी प्रभावक आचार्य श्री कालधर्मको प्राप्त हुए।

आर्य संभूति विजयजी--माढ़र गोत्रीय ब्राह्मण कुलमें वी.सं. ६६में जन्मे और आचार्य यशोभद्रजीके उपदशसे जैनत्व वासित परम वैराग्यसे वी.सं. १०८में दीक्षा ग्रहण की। पूर्वागमोंका अध्ययन करके वी.सं. १४८में आचार्य पद प्राप्त किया। उनकी निश्रामें श्रुत सम्पन्न गुरुभाई श्री भद्रबाहु स्वामी, कामविजेता श्री स्थुलभद्र, घोर अभिग्रहधारी श्रेष्ठ मुनि मंडल एवं प्राज्ञ-प्रतिभा सम्पन्न यक्षादि साध्वियाँ आदि बारह प्रमुख शिष्य सह विशाल परिवार था। यक्षा साध्वीजी म.को श्री सिमंधर स्वामीसे चार चूलिकायें [६२] प्राप्त हुईं थी। ४२ वर्षकी आयुमें दीक्षा और बयासी वर्षकी आयुमें युगप्रधान बनें। नब्बे वर्ष की आयु पालकर वी.सं. १५६में स्वर्गवासी हुए।

भद्रबाहु स्वामी---प्राचीन गोत्रीय-विशिष्ट महाप्राण ध्यानके[६३] ध्याता-महासत्त्ववान् श्री भद्रबाहु स्वामीका जन्म वी.सं. ९४मे हुआ और दीक्षा वी.सं. १३९में लेकर, श्रुतकेवली बनकर, वी.सं १५६में सूरिपद प्राप्त किया। ७६ वर्षकी आयु पूर्ण करके वी.सं.१७०में स्वर्गवासी हुए। उनके चार स्थविर शिष्य और दृढाचार पालक-निरंहकारी-धर्म प्रवचन तत्पर-दृढ़ प्रतिज्ञ चार शिष्य थे, जो प्रतिज्ञाका पालन करते करते काल-कवलित हो गए। वीर द्वितीय शताब्दिके बारह वर्षीय दुष्कालानन्तर स्थुलभद्रने उनके पास चौदह पूर्वका अध्ययन किया। भद्रबाहुजीने ४५ आगमोंमेंसे आचार शुद्धिके विभिन्न प्रायश्चित्त-विधिविधान निरूपण करनेवाले महत्त्वपूर्ण चार छेदसूत्रोंका उद्धार किया। 'छेद' नामक प्रायश्चित्तके आधार से उनका 'छेदसूत्र' नामकरण किया।

आर्य स्थुलभद्र वि.-- अंतिम श्रुतकेवली, सुतीक्ष्ण प्रतिभा सम्पन्न-उच्च कुलोत्पन्न-श्री संभूती विजयजीके धीर-गंभीर-दृढ़ मनोबली-विनयवान-गुणवान शिष्य-श्रमणवर्गभूषण-कामविजेता-मंत्रीश्री शकड़ालके ज्येष्ठ पुत्र श्री स्थुलभद्रजीका जन्म वी.सं ११६में गौतम गोत्रीय ब्राह्मण कुलमें हुआ था। नर्तकी कोशाके संपर्कसे विषय-वासनामें लुब्ध, लेकिन राजनैतिक षड्यंत्रमें पिताकी मृत्युके समाचारसे मोहतंद्रासे सहसा जागृत होकर-वैरागी बनकर संयम स्वीकार किया वी.सं. १४६ में श्री संभूति मुनिके पास। आगमाध्ययन पश्चात् कोशाको भी उसके घर चातुर्मास करके प्रतिबोधित की और व्रतधारी श्राविका बनायी। भद्रबाहुजीके पास नेपाल आकर चौदह पूर्वकी विपुल ज्ञान राशिको धैर्यतासे ग्रहण करके श्रुतधाराका रक्षण किया। आयुके अंतिम १५ दिन अनशन करके वी.सं. २१५में ९९ वर्षकी आयु पूर्ण करके स्वर्गवासी हुए।

आर्य महागिरिजी---प्रथम दसपूर्वी, महाप्राज्ञ, परमत्यागी, श्री शील-द्युति सम्पन्न, सुदक्ष आचार्य, निरतिचार संयमाराधक, जिनकल्प[६४] तुल्य साधना के विशिष्ट साधक, एलापत्य गोत्रीय श्री महागिरिजीका जन्म वी.सं. १४५में हुआ। यक्षाजीसे पालित होनेसे बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न बने। वी.सं. १७५में संयम स्वीकार किया। स्थुलभद्रजीसे अध्ययन बाद आचार्य पदका उत्तरदायित्व तीस

साल निभाया। अनेक मुनियोके वाचना-दाता, उग्रतपस्वी, जिनकल्प विच्छेद होने पर भी आत्म विशुद्धिके लिए जिनकल्प तुल्य साधनामे गणकी निश्रामें रहकर भयकर उपसर्गादिमें निष्प्रकंप-निराबाध-निःसारभोजी-स्मशानादिमे स्वेच्छासे साधनारत बनकर कर्मनिर्जरा की। अपनी १०० सालकी आयु पूर्ण कर मालवामे वी.स. २४५ मे स्वर्गवासी बने।

आर्य सुहस्ति सूरिजी--- महान शासन प्रभावक सुहस्तिजीका जन्म वी.स. १८१मे हुआ। यक्षाजी द्वारा पालित और वैराग्यवासित बनकर वी.सं. २१५में स्थुलभद्रके शिष्य हुए। उसी वर्ष गुरुजीके स्वर्गवाससे गुरुभ्रातासे ही अध्ययन किया। आचार्यपद वी.सं. २४५मे प्राप्त करके गुरुभ्राताकी निश्रामे ही सघ संचालन एवं धर्मप्रचार कार्य करने लगे। सम्राट संप्रतिको प्रतिबोधित करके सवालक्ष जिनमंदिर और सवाक्रोड जिन प्रतिमा, सातसौ दानशालाये आदि प्रभावक कार्य करवाये। संप्रतिने कर्मचारियों द्वारा अनार्यदेशमे[६५] भी मुनि विचरणका मार्ग प्रशस्त किया। भद्रामाताके पुत्र अवंतिसुकुमालको प्रतिबोधित करके दीक्षा देकर आत्म कल्याणकी ओर प्रेरित किया। ज्ञानके भंडार और धर्मधूराके समर्थ संवाहक सुहस्तिजीके बारह प्रमुख शिष्य थे। कुल ११० वर्षकी आयु पूर्ण करके वी.स. २९१मे कालधर्म प्राप्त हुए।

आर्य सुस्थित और आर्य सुप्रतिबुद्ध--- कुमारगिरि पर विशिष्ट त..राधनाकारक काकंदीमे सूरिमंत्रके [६६] एक क्रोड जाप कारक और इसीलिए कोटिक गण प्रणेता-व्याघ्रापत्य गोत्रीय सुस्थितजीका जन्म वी.स. २४३मे हुआ। दोनो सहोदर काकंदीके राजकुमार थे। वी.सं. २७४में दीक्षा लेकर संयम साधनासे आत्मविकास करते हुए एवं शास्त्रीय ज्ञानार्जन करके वी.सं २९१मे आचार्य पद प्राप्त किय। खारवेलकी आगमवाचनामे[६७] ये दोनो उपस्थित थे। आपके पाँच शिष्य मुख्य थे । कुमारगिरि पर वी.सं. ३३९ मे स्वर्गवासी हुए।

आर्य इन्ददिन्न→ आर्य दिन्न सुरीजी →आर्य सिहगिरि - इन तीनोंकी कोई भी विशिष्ट विगत या विशेष समय संकेत नही मिलता है। संभवतः चोथीके उत्तरार्ध से छट्ठीके पूर्वार्ध तक माना जा सकता है।

आर्य वज्र स्वामी --- पूर्व जन्ममे गौतम स्वामीसे प्रतिबोधित होकर इस जन्ममे माँके मोहको छुडाने के लिए रो-रोकर माताको परेशान करनेवाले वज्रका जन्म वी.स. ४८८में हुआ। राज दरबारमे पिताके रजोहरणको[६८] लेकर नाचनेवाले, तीन वर्षकी आयुमें ही साध्वीजी महाराजके ग्यारह अंगका पठन-पाठन सुनते सुनते ही उसे कंठस्थ करनेवाले वज्रस्वामीने वी.सं. ४९६मे दीक्षा लेकर श्री भद्रगुप्तजीसे विशेष विद्याध्ययन करके दसपूर्वी ज्ञाता बने। मित्र देवने परीक्षानन्तर गगनगामिनी और वैक्रिय लब्धियाँ[६९] दी। पाटलीपुत्रकी अति श्रीमंत कन्या रुक्मिणीकी क्रोड़ोंकी सम्पत्ति ठुकराकर उसे प्रतिबोधित करके दीक्षा दी। आपकी वाचना शैलीकी उत्कृष्टता देखकर गुरुजीने आपको वाचनाचार्य पद प्रदान किया, बादमे वी.सं. ५४०में आचार्यपदारूढ हुए। भयंकर अकालमे श्री संघको एक पट्ट पर बैठाकर गगनमार्गसे सुभिक्षतावाले नगरमे ले आये वहाँ पर्युषणा पर्वमें अपनी लब्धिके बलसे पद्मद्रहकी लक्ष्मीदेवीसे सहस्त्रदल कमल और मित्र-मालीसे बीस लाख पुष्प लाकर शासन प्रभावना की एवं इससे प्रभावित बौद्ध राजाको प्रतिबोधित करके जैनधर्मी बनाया। क्षीणायु जानकर रथावर्त गिरि

पर अनशन[९०] करके वी.स ५७६मे स्वर्गवासी हुए। इनसे वयरी शाखा निकली। इन्द्रने इनका स्वर्गवास जानकर रथावर्त गिरि आकर वदना-प्रदक्षिणा की। *(इनके बाद दशपूर्व और चार संघयण बलका[९१] विच्छेद हुआ।)*

आर्य वज्रसेन सूरि --- जन्म वी.स ४९२, दीक्षा-५०१, युगप्रधान पद ६१७ और स्वर्गवास वी.सं. ६२०में हुआ। ये आर्य वज्र के शिष्य थे। सोपारकमें बारह वर्षीय अकाल प्रान्ते श्री जिनदत्त श्रेष्ठि और उनके चार पुत्र नागेन्द्र-निर्वृत्ति-चद्र और विद्याधरको प्रतिबोधित करके दीक्षा दी। उन चारोसे उनके नाम निष्पन्न चार कुल हुए। 'लक्ष्यमूल्यके चावलकी प्राप्तिसे सुभिक्ष'की गुर्वाणी से आधारित आगाही करके जिनदत्त और ईश्वरी के सर्व परिवारको बचा लिया। प्रतिबोधित करके आत्म कल्याणके लिए सिंचित किया।

आर्य चद्रसूरि---इनसे चद्र गच्छका प्रादुर्भाव और सामंतभद्रसे बनवासी गच्छका प्रारम्भ हुआ।

सामन्त भद्रजी---विक्रमकी द्वितीय शताब्दिमे 'आप्त मीमासा' ग्रथकी रचना की। बहुलता से वे बने-जंगलोमे-एकान्तमे रहते थे इसलिए निर्ग्रन्थ गच्छका नाम बनवासीगच्छ' हुआ।

श्री वृद्धदेव सूरि ---स्वर्गवास वी.स ६९६ → **श्री प्रद्योतन सूरि** → **श्रीमानदेव सूरि** ---तक्षशिला श्री सघकी महामारी शातिकरण हेतु नाडोलमे 'श्री लघु शान्ति स्तव' रचकर तक्षशिला भेजा जिसके पाठादिसे उपद्रव शान्त हो गया।

श्री मानतुंग सूरि---४८ तालोकी जजीरे तोडनेके निमित्तभूत चमत्कारिक-प्रभावशाली भक्तिरस भरपूर 'भक्तामर स्तोत्र' और रोगोपशाताकारक-धरणेन्द्र देव प्रदत्त अठारह मत्राक्षराधारित भयहर 'नमिउण स्तोत्र' के रचयिता श्री मानतुगजीका जन्म वाराणसीके ब्रह्म क्षत्रिय धनदेव श्रेष्ठिके घर हुआ था। प्रथम वे दिगम्बर साधु चारुकीर्ति से प्रतिबोध पाकर दीक्षा ग्रहण करके महाकीर्ति बने। तदनन्तर निज भगिनि प्रेरित श्वेताम्बरीय दीक्षा श्री अजितसिहजीके पास ली और मानतुंग नामसे प्रसिद्ध हुए। तपोविधिपूर्वक आगम ज्ञाता बने। गुरुने आचार्य पद प्रदान किया। उन्होने जिनशासन प्रभावनाके अनेक कार्य किए। **वीर सूरि** → **जयदेवसूरि** → **देवानंद सूरि** *(स्वर्ग वी स ८४५)* → **विक्रमसूरि** *(स्वर्ग-वी स ८८२)* → **नरसिंह सूरि** → **श्री समुद्र सूरि** *(वी स ९९३ कालिकाचार्यजीने सात्सरिक प्रतिक्रमण[९२] भा सु ५ के बदले भा सु ४ के दिन करना प्रारम्भ करवाया वी.सं १०००। सत्यमित्राचार्यके पश्चात् सर्व पूर्वका ज्ञान विच्छेद हो गया)* → **(द्वितीय) श्री मानदेव सूरि** → **श्री विबुधप्रभ सूरि** → **श्री जयानंद सूरि** → **श्री रविप्रभसूरि**-इन्होंने वी स ११७०मे नाडोलमे श्री नेमिनाथ भगवतकी प्रतिष्ठा करवायी। *(वी सं १११०मे युगप्रधान- 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' के रचयिता श्री उमास्वाति हुए)* → **श्री यशोदेव सूरि** → **श्री प्रद्युम्न सूरि**-शास्त्रार्थ निपुण, जैन एव वैदिक दर्शन निष्णात, ग्वालियर और त्रिभुवनगिरिके महाराजाओके प्रतिबोधक श्री प्रद्युम्न सूरिजी म महान प्रभावक आचार्य थे। उनके शिष्य राजकुमार अभयदेवने दीक्षा लेकर विविध विषयोमे निष्णात बनकर 'सम्मति तर्क' ग्रन्थ पर २५००० श्लोक प्रमाण टीका 'वाद महार्णव' की रचना की।

उपधानवाच्य ग्रन्थकर्ता मानदेव सूरि (तृतीय) --*(इसी समयमे 'आम' राजा प्रतिबोधक श्री बप्पभट्टाचार्यजी वी सं. १२७० मे हुए)* → **विमलचंद्र सूरि** → **श्री उद्योतन सूरिजी**---आबू तलहटीके 'तेली' गाँवमे संतानवृद्धि-सहजयोग जानकर एक वटवृक्षके नीचे एक साथमे आठ शिष्योंको आचार्य पदवी प्रदान की (तवमं 'वनवासी गच्छ'का पांचवा नाम 'वडगच्छ' चला वी सं १४६४) इनका स्वर्गवास पद्रहवी शतीमे हुआ।

सर्वदेव सूरि---चंद्रावतीमे कुंकण मंत्रीको प्रतिबोधित करके दीक्षा दी। वी स.१४८०मे राम सैन्यपूरमे ऋषभदेव और चन्द्रप्रभके चैत्योकी प्रतिष्ठा करवायी। →

रूपदेव सूरि → **सर्वदेव सूरि** (द्वितीय) → **यशोभद्र सूरि और नेमिचन्द्र सूरिजी** *(उद्योतनसूरि → वर्धमान सूरि → जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि → जिनचद्र सूरि → नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि आदि-खरतर गच्छ परम्परा का प्रारम्भ)*

यशोभद्र सूरिजीके पट्टधर श्री मुनिचंद्र सूरि--- धर्म बिन्दु, योगबिन्दु, उपदेशपदादि ग्रंथोके रचयिता। गुरुभाईको प्रतिबोध देने हेतु 'पाक्षिक सप्ततिका' ग्रन्थकी रचना की। *(चन्द्रप्रभजीने 'पौर्णमिया गच्छ' चलाया जो पाक्षिक पूनमकी मानते हैं जबकि उपाध्याय नरसिंहजीने वी.सं. १६८३में 'अंचलगच्छ स्थापित किया)*

अजितदेव सूरि--- 'स्याद्वाद रत्नाकर' के रचयिता, दिगम्बर विजेता, आरासणमे श्री नेमिनाथजीकी प्रतिष्ठाकारक, फलवर्धिमे चैत्य-बिम्बकी प्रतिष्ठा करवानेवाले शासन प्रभावक आचार्य श्री अजितदेव सूरिजी म. का स्वर्गवास १६९० मे माना जाता है *(इनके समयमें देवचद्र सूरिजीके शिष्य, कुमारपाल प्रतिबोधक, कलिकाल सर्वज्ञ, साढे तीन क्रोड़ श्लोक रचयिता, युग निर्माता, पांडित्य, पारसमणि, असाधारण प्रज्ञा सम्पन्न और विधाधिष्ठात्री श्री सरस्वती देवीके कृपापात्र, लब्धिधारी, विविध गुप्त विद्याओके ज्ञाता, अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न, अनेक सद्गुण श्रेणिमडित आचार्य श्री हेमचंद्र हुए जिनसे जिनशासनकी महती प्रभावना हुई)*

समर्थवादी श्री विजयसिंह सूरि (वी.सं. १७०५) → **श्री सोमप्रभ सूरिजी**--- 'सुक्ति मुक्तावली' (सिन्दुर प्रकर) के रचयिता, महामंत्री जिनदेवके पौत्र और सर्वदेवके पुत्र सोमप्रभजीका जन्म वैश्य वंशीय पोरवाल-जैन धर्मीय आस्थायुक्त संस्कारवाले परिवारमे हुआ। श्री विजयसिंह सूरिजीके पास दीक्षा ग्रहण करके आगमज्ञाता बने जिससे गुरुने योग्यता जानकर आचार्यपद प्रदान किया। कुशल कवि, मधुर वक्ता और समर्थ साहित्यकार थे। सुमतिनाह चरियं, कुमारपाल पडिबोहो, शृगार-वैराग्य तरंगिणी *(एक ही श्लोकके शृगार और वैराग्य-दोनों प्रकारसे अर्थघटन हों)* सिन्दूर प्रकर, शतार्थकाव्य-कल्याणसार (प्रत्येक श्लोकके सौ अर्थ हों) आदिकी रचना की है। इनका समय अठारहवी शतीका माना जाता है।

मुनिरत्न या मणिरत्न सूरि → **श्री जगच्चंद्र सूरि**---त्यागी, वैरागी, विशिष्ट कोटिके विद्वान, महातपस्वी, पोरवाल वशीय श्रेष्ठि पूर्णदेवके लघुपुत्र जिनदेवने पारिवारिक संस्कारसे वैरागी बनकर दीक्षा ली। गंभीर शास्त्राध्ययनसे योग्य बनकर आचार्य पद प्राप्त किया। मेवाड शास्त्रार्थमे अभेद्य

रहे। संघमें फैले शिथिलाचारको दूर कर चारित्रनिष्ठ और शुद्ध समाचारी स्थापित करने हेतु यावज्जीव आचाम्ल तपका[७३] अभिग्रह किया, जिससे प्रभावित हुए मेवाड नरेश झैलसिंहने उन्हें 'महातपा'का बिरूद दिया। स्वर्गः वी.सं. १७५७ वीर शालिगाँव में। (तबसे 'बडगच्छ'का नाम 'तपागच्छ' चला, जो वर्तमानमें भी सर्वमान्य चल रहा है।)

देवेन्द्र सूरिजी---तत्त्व निष्णात, संस्कृतके अधिकृत विद्वान, सैद्धान्तिक एवं आगमिक ज्ञान के गंभीर ज्ञाता, 'पंच कर्मग्रन्थ' प्रणेता, रोचक एवं प्रभावक व्याख्याता, विशाल शिष्यगणधारी, मधुर कवि श्री देवेन्द्र सूरिजी म.ने कर्मग्रन्थोंकी स्वोपज्ञ टीका, सिद्ध पंचाशिका सूत्रवृत्ति, धर्मरत्नवृत्ति, श्रावक दिनकृत्य सूत्र, सुदर्शन चरित्र, वन्दारुवृत्ति (श्रावकानुविधि) 'कुलक' आदि अनेक दार्शनिक सूत्रों और मधुर स्तोत्रोंकी रचना की। स्वर्गः वी.सं. १७९७में हुआ।

धर्मघोष सूरिजी---ये देवेन्द्र सूरिके शिष्य थे। अपने गुरुबंधु विद्यानंद सूरिजीको साथमें रखकर, इन्होंने खंभातमें लघुपौषधशालाका निर्माण करवाया।

सोम प्रभ सूरि (द्वितीय)---जन्म वी.सं १७८० से स्वर्ग. १८४३। बहुश्रुत-शास्त्रनिपुण, श्री धर्मघोष सूरिजीके शिष्य एवं श्री परमानंदादिके गुरु श्री सोमप्रभजीने ग्यारह वर्षकी उम्रमें दीक्षा और बाईस वर्षकी आयुमें आचार्य पद प्राप्त किया। चितौड़के ब्राह्मणोंसे बुद्धिकौशल्यसे विजय पायी। भीमपल्लीमें ज्योतिषशास्त्रके बल पर अनिष्ठ घटनाका संकेत देकर श्री संघको संकटसे बचाया। २८ चित्रबंध काव्य रचना से काव्यसंयोजना कौशल्य का विशिष्ट परिचय प्रदान किया।

सोमतिलक सूरीजी म.---इन्होंने 'क्षेत्रसमास'-भौगोलिक ग्रन्थकी, रचना की।

देवसुंदर सूरिजी---(इनके शिष्य गुणरत्नसूरिजीम.ने महत्त्वपूर्ण धातु संकलनका व्याकरण ग्रन्थ-'क्रियारत्न समुच्चय', दार्शनिक ग्रंथ 'षड्दर्शन समुच्चय' की तर्करहस्य दीपिका टीका, कल्पान्तर्वाच्य (पर्वाराधन और कल्पसूत्र उपयोगिता), चतुःशरण, आतुर प्रत्याख्यान, संस्तारक और भक्त परिज्ञा-इन प्रकीर्णक ग्रंथ, छ कर्मग्रंथ, और क्षेत्रसमासादि सूत्रों पर अवचूरि रची। इसके अतिरिक्त 'अंचलमत निराकरण' ग्रंथकी रचना की।

सोमसुंदर सूरि---विशाल शिष्य समुदाय---जयसुंदर, मुनिसुंदरादिके गुरु श्री सोमसुंदर सूरिजीने राणकपुरके त्रैलोक्य दीपक-धरण महाप्रासाद-१४४४ स्तंभयुक्त जिनमंदिरकी प्रतिष्ठा ६६ वर्षकी आयुष्यमें वी.सं. १९६६में करवायी थी।

मुनिसुंदर सूरि---सहस्त्रावधानी[७४], शास्त्रार्थ कुशल, "वादी गोकुलसंड" एवं "काली सरस्वती" *(ये दो पदवी गुजरात सुलतान मुजफ्फर खाँ और दक्षिणके पंडितने दी थी)* सिद्ध सारस्वत, पंचम प्रस्थानके[७५] २४ बार आराधक; साहित्य रचना, धर्म प्रभावना मंदिर निर्माणादि में देदीप्यमान नक्षत्र, उग्र तपसे 'पद्मावती' देवीको प्रसन्न करनेवाले, 'संतिकर' स्तोत्र रचनासे महामारी उपद्रव निवारक, तीड़ उपद्रव रोककर 'अमारि' का प्रवर्तन करानेवाले, चौदह वर्षकी बाल वयमें त्रैवेद्य गोष्ठि[७६] ग्रन्थके रचयिता, उपदेश रत्नाकर (स्वोपज्ञ वृत्ति)के स्वयिता श्री मुनिसुंदर सूरिका जन्म वी.सं. १९०६, दीक्षा-१९१४, वाचक-१९३६, सूरिपद-१९४८, और स्वर्गः १९७३ में हुआ। ये गच्छनायक, ग्रन्थकार, कवि, प्रभावक,

मंत्रविद्या-शील, इतिहासकार, शास्त्राभ्यासी, तपस्वी, तेजस्वी, विद्या पुरुष थे।

रत्नशेखर सूरि---श्राद्ध प्रतिक्रमण वृत्ति, श्राद्ध विधि सूत्र वृत्ति, लघुक्षेत्र समास, आचार प्रदीपादि ग्रन्थ रचे। *(इनके कालमे जिन प्रतिमा और आगम-पंचांगी उत्थापक लूंपक लिखारीसे लूंपक (लौंका) मत निकला जिसमे प्रथम साधु-'भूणा' नामक बना। आगे चलकर वी.सं २१७९मे लवजीने मुंह पर कपड़ा बांधकर स्थानकवासी-ढूढिया पथका प्रचार किया; जो ३२ आगम मानते हैं। उनके २२ फाँटे-२२ टोले होनेके कारण ये बाईस पथीभी कहलाते हैं।)*

लक्ष्मीसागर सूरि---श्री सोमसुंदर सूरिजीके शिष्य माने जाते हैं।

सुमति साधु → हेमविमलसूरि *(इनसे विमल शाखा निकली)* → आनंद **विमल सूरि** *(वी.सं. २०४२में नागपुरीय तपागच्छसे अलग होकर प्रार्श्वचंद्रजीने पार्श्वचंद्र गच्छका प्रवर्तन किया)* →**विजयदान सूरि**-(स्वर्ग. वी.सं. २०९२) → **विजय हीरसूरिजी**---म. सम्राट अकबर प्रतिबोधक, जगद्‌गुरु, राजसन्मानित आ हीरसूरि म का जन्म वी. सं. २०५३ ओशवाल परिवारमें पालनपुरके कूरा और नाथीबाई की संतानरूप हुआ। तेरह साल की आयुमे विजयदान सूरि म के पास दीक्षा ली और न्यायादि एवं धर्मशास्त्राभ्यास करके हीर-हर्ष मुनिने २०५७में पंडित और २०५८मे वाचक पद प्राप्त किया और २०६० मे आचार्य पदारूढ हुए तबसे वे हीरसूरि नामसे प्रसिद्ध हुए। सम्राट अकबरके आमंत्रणसे फतहपुर सिक्री जाकर अकबरको प्रतिबोधित करके एवं उसके जीवन पर्यंत अपने दो शिष्योको वहाँ रखकर उसे जैनधर्ममें स्थिर किया और वर्षमे छ मास पर्यंत अमारि पालन करवाया। वी.सं. २१२२ के भादो शु ११को कालधर्म प्राप्त सूरिजीका अग्नि सस्कार अकबर बादशाह द्वारा भेंट की गई जमीनमे किया गया तब उस स्थल पर स्थित आम्र वृक्षको अकालमे आमफल लगे थे। उनके नाम स्मरण मात्रसे सर्प-विष नष्ट होता था। उनके दो हजार शिष्य विभिन्न स्थलो पर शासन प्रभावना करते रहते थे।

विजयसेन सूरि---प्रखर धर्म प्रचारक उत्तम व्याख्याता, उग्र विहारी, गुरु प्रति भक्तिवान और धर्म प्रति श्रद्धाशील, श्री हीर सूरि म के सबल सहायक-उनकी ख्याति को चारचांद लगानेवाले-उनके उत्तराधिकारी, प्रभावशाली व्यक्तित्वधारी श्री विजयसेन सूरि म. सम्राट अकबरको विशेष रूपसे प्रभावित करके और दृढ धर्म श्रद्धाशील बनाकर लाहोरमें 'सवायी हीरजी' पदवीसे अलंकृत हुए। अकबरकी सभाके विद्वान ब्राह्मणोंसे वादमे विजयी हुए। अकबरके आग्रहसे लाहौरमे निरन्तर दो चातुर्मास किये जिससे उनकी गुरु म.से अंतिम भेट-उग्रविहार करने पर भी-न हो सकी। सुविशाल गच्छका सफल संचालन करते करते वी.सं.२१४२ मे स्वर्गवासी हुए। उनको आचार्यपद अहमदाबादमें प्राप्त हुआ। उन्होंने जिनशासनकी महती प्रभावना की।

श्री विजयदेव सूरि म.---प्रभावशाली संघनायक, विशाल विचारश्रेणीधारी, उदार हृदयी, विद्वान, जहांगिरि महातपा, जनप्रिय विजय देव सूरिजीका जन्म गुजरातके ईलादुर्ग (ईडर) नगरमें पिता 'स्थिर'-माता 'रूपा' के घर वी.सं २१०४मे हुआ। पारिवारिक धार्मिक संस्कारवश माता रूपादेवीके साथ अहमदाबादमे वी.सं.२११३मे माघ शु. १०को वासदेवने दीक्षा ली। मुनि विद्याविजयको विद्यार्जन

करके योग्यता प्राप्त करनेसे गुरु म.ने उन्हे वी.सं २१२५ मृ.कृ.५ को पंडित और २१२७मे आचार्यपद प्रदान किया और विजयदेवसूरि बने एवं वी.सं २१२८मे गच्छानुज्ञा प्रदान की। मामा म. धर्मसागरजीके गच्छके साथ कुछ सैद्धान्तिक विचारभेदके कारण उनकी और उनके गुरु विजयसेन सूरि म. की गच्छ परपरा भिन्नभिन्न हो गई। उन्होने उदयपुर नरेश जगतसिंहको प्रेरित करके नगरमे अहिंसाका पालन करवाया। ईडरके राय कल्याणमल्लादि भी उनसे विशेष प्रीति रखते थे। उन्होने अपने शिष्य कनकविजयजीको आचार्यपद देकर आ. विजयसिंहके नामसे उत्तराधिकारी बनाया, जो उनके जीवनकालमे ही स्वर्गवासी हुए। आचार्य देवसूरि म.का स्वर्गवास ऊनामे वी.सं. २१८३ मे हुआ।

विजय सिंहसूरि---तपागच्छमें कियोद्धार करके संविज्ञ मार्ग प्रवर्तनकी भट्टारक श्री विजय देव सूरि म.की तीव्राभिलाषाको इन्होने मूर्तिमत रूप देनेके लिए अपने शिष्य पन्यास सत्य विजयजी गणि आदिको साथमे रखकर प्रयत्न किये और वी.सं. २१७६मे महा सुद त्रयोदशी गुरुवारको पुष्य नक्षत्रमे संविज्ञ साधु-साध्वीके लिए पैंतालीस बोलका पट्टक तैयार किया। महाशु.२ २१७८मे. अहमदाबाद में उनका कालधर्म हुआ।

पंन्यास सत्यविजयजी गणि---परमशात. सवेगी, त्यागी, वैरागी, संयमी, शुद्ध क्रिया प्रेमी, विद्वान, तपस्वी, ध्यानी, शासन प्रभावक पं. सत्यविजयजी लाडलुंके दुगड़ गोत्रीय वीरचद ओसवाल और माता विरमदेवीके अपत्य शिवराजके रूपमे अवतरित हुए। वी.सं. २१३७में विजयसिंह सूरिजीका शिष्यत्व स्वीकार करके अध्ययनादि करके विद्वान बने। उनके क्रियोद्धार पट्टक पर हस्ताक्षर करके विजयदेवसूरिजीकी आज्ञासे वी.सं. २१८१मे महा सु. १३ को उनकी ही निश्रामें रहकर पाटणमें अपनाया। स्वेच्छासे भट्टारक पद त्यागकर जीवनपर्यत पंन्यास हीं बने रहे। आनंदघनजीके समकालीन, उनके साथ वर्षो तक बनमें बसकर महान तप एवं योगाभ्यासमे लीन रहनेवाले वृद्धावस्थामें अंतिम चातुर्मास पाटणमे करके वी.सं. २२२६, पो.कृ १२ को सिद्धयोगमे अनशन कर समाधिपूर्वक कालधर्म प्रात हुए।

पं. कर्पूर विजयजी---बचपनमे ही माता-पिता वीरा-भीमजी की छत्रछायासे वंचित हो जाने के कारण बुआके घर बचपन व्यतीत करनेवाले कानजीका जन्म पाटणके पासक वागरोड़ गांवमें वी.सं. २१७४मे हुआ। पं. सत्य विजयजी गणीके पास २१९० मे कर्पूर विजय नामसे दीक्षित हुए। शास्त्राध्ययनसे योग्यता प्राप्त करनेसे आ श्री विजयप्रभ सूरिने उन्हे आनंदपुरमे पंडित पदसे विभूषित किया।- पं. सत्य विजयजी के पट्ट पर २२२६मे स्थापन हुए। अनेक धर्मकृत्य करवाकर शासन प्रभावना की। श्रा कृ.१४. २२४५ को कालधर्म प्राप्त हुए उनके दो मुख्य शिष्य थे-पं. वृद्धि विजय और प. क्षमाविजयजी।

पं. क्षमाविजयजी---आबू पर्वतके पोयद्रा गांवके चामुंडा गोत्रीय ओसवाल शाह कला श्रेष्ठि और माता वनांदेवीके आत्मज खेमचंदका जन्म हुआ। श्री वृद्धि विजयजी से प्रतिबोध पाकर दीक्षा ली और क्षमाविजय बने वी.स २२१४। तीर्थयात्रा के साथ साथ शास्त्राभ्यास करके पाटणमें पंन्यास पद प्राप्त किया और वी स २२४५मे गुरुके पट्ट पर बिराजित हुए। पाटण-कावी आदि तीर्थस्थानोमे

अंजनशलाका-प्रतिष्ठादि धार्मिक अनुष्ठान करवाकर शासन प्रभावना करते करते अहमदाबादमे जिन विजयजीको उत्तराधिकार प्रदान कर २२५६ आसो मासमे कालधर्म प्राप्त हुए। उनकी गेय रचनाये स्तवनादि अद्यापि लोक जिह्वाग्रे हैं।

पं.श्रीजिन विजयजी---अहमदाबाद के श्रीमाली धर्मदास और माता लाड़कुंवर बाईके पुत्ररत्न खुशालका जन्म वी.सं. २२२२मे हुआ था। प क्षमाविजयजीके धर्मोपदेशसे वैरागी बनकर २२४०में जिनविजयजी नामसे दीक्षित हुए। २२५२से श्री संघका उत्तरदायित्व स्वीकार किया। उमदा एवं उच्च चारित्र पालकर विविध तीर्थस्थानोकी यात्रा करके पादरामे २२६९में श्रा.शु.१०को कालधर्म प्राप्त हुए। उनकी कृतियाँ-कर्पूरविजय गणि रास-क्षमाविजयरास, जिन स्तवन चौबीसी, जिन स्तवन बावीसी आदि अनेक स्तवन, सज्झाय, स्तुति हैं।

पं. उत्तम विजयजी---अहमदाबादके शेठ बालाचंदके घर वी.सं. २२३०में पूंजाशाहका जन्म हुआ। २२४८में खरतरगच्छीय देवचंद्रजीके पास जैन विधि-विधान ज्ञात किये। सुरतसे समेत शिखरजीके छ'री पालित संघमे भी विधि-विधानके लिए साथमे गए। वहाँ मधुवनमें रात्रिमे किसी देवने उन्हें श्री नंदीश्वर द्वीप तीर्थ-यात्रा एवं श्री सिमंधर स्वामीके समवसरणके साक्षात् दर्शन करवाये। यात्रानन्तर वै.शु.६, २२५६मे श्री जिन विजयजीके पास दीक्षा अंगीकार की। श्री देवचंद्रजीके पास द्रव्यानुयोगादि शास्त्राभ्यास और सुरतके यतिवर्य श्री सुविधि विजयजीसे अभ्यास किया। उपधान, तीर्थयात्रादि शासन प्रभावनाके अनेक कार्य करके और अनेक स्तवन-सज्झाय-स्तुति आदि साहित्य सर्जन-सेवा करते करते वी.सं. २२९७-महा शु. ८ रविवारको कालधर्म प्राप्त हुए।

पं. पद्मविजयजी---अहमदाबादके श्रीमाली श्रावक गणेशभाई और माता झमकुबाईके पुत्र पानाचंदका जन्म वी.सं. २२६२में भादो शु.२को हुआ। मौसी जीवीबाईके सत्संगसे धर्म संस्कार पाकर और प. श्री उत्तमविजयजीके व्याख्यानमे श्री महाबल मुनिका चरित्र सुनकर दृढ वैराग्य वासित बनकर २२७५में चारित्र ग्रहण किया। मुनि पद्मविजयजीने विद्यार्जनसे, आगमाभ्याससे योग्यता पाकर २२८०में विजय धर्मसूरिजीसे पडितपद प्राप्त किया। उपधानतप, तीर्थयात्रा, सिद्धाचलादि तीर्थस्थानोमे जिनमंदिर-जिनप्रतिमाके अंजनशलाका-प्रतिष्ठा-जिर्णोद्धारादि विविध कार्योंसे शासन प्रभावना करके समर्थ विद्वान-चतुर व्याख्याता.अनेक रासाकाव्य, स्तवन, सज्झाय, स्तुति-पूजा देववंदन चरित्रकाव्यादि के रचयिता कुशल कवि अंतिम २८ दिन उत्तराध्ययन सूत्रकी सुंदर आराधना करते हुए, ५७ वर्षके दीक्षा पर्यायानन्तर चै.सु. ४, २३३२ मे स्वर्गवासी बने।

पं. रूपविजयजी---२३-२४वीं शतीके विद्वान-उत्तम कवि, वैदक शास्त्र के कुशल निष्णात थें। आपका पृथ्वीचंद्र चरित्र, अनेक रासाकाव्य-पूजा-स्तवन, सज्झाय, स्तुति देववंदनादि रचनायें प्रचलित हैं।

पं. कीर्ति विजयजी---खंभातके विशा श्रीमाली ज्ञातिमें कपूरचंदजीका जन्म वी.सं. २२८६ में हुआ। पैंतालीस वर्षकी आयुमे श्री रुपविजयजीके पास पालीतानामे दीक्षा ली। स्वरूपवान, तेजस्वी, त्यागी, ध्यानी गणिजीने गुजरात और मेवाड पर बहुत उपकार किए हैं। आपके विद्वत्तादि अनेक गुण सम्पन्न-एक से बढकर एक ऐसे पंद्रह महान शिष्य थे। कई शिष्योकी तो अपनी भव्य परम्परा आजभी

विद्यमान है।

पं. कस्तुर विजयजी--- त्यागी, वैरागी, तपस्वी, ज्ञानी, प्रभावक प. कस्तुर विजयजीका जन्म वीशा पोरवाल ज्ञातिमे वी.सं २३०७मे और २३४०मे बडौदामे कालधर्म प्राप्त हो गए।

पं. श्री मणिविजयजी (दादा)---गुजरातके भोयणी तीर्थके पास अघार गाँवमे विशा श्रीमाली श्रेष्ठि जीवनदास और माता गुलाबबाईके पुत्र मोतीचंदजीका जन्म वी.सं २३२२ मे हुआ। प्राथमिक व्यावहारिक शिक्षण प्राप्त करके व्यापारार्थ पेटली गाँवमें बसे। कीर्तिविजयजी म.के परिचयसे वैरागी बनकर २३४७ मे मारवाडके पाली शहरमें दीक्षा ग्रहणकी और वी.सं. २३९२मे पंन्यास पद प्राप्त किया। महातपस्वी, अति प्रसन्न मुखाकृति, अप्रतिबद्ध विहारी, प्रशान्त मूर्ति, विनीत, भक्ति-वैयावृत्यकारी, सेवा परायण, मिलनसार-सर्वप्रिय, गम्भीर असाधारण निःस्पृही, अकिंचन, प्रमाद परिहारी, सर्वदा जागृत ज्ञानदशा, सरल, बाल ब्रह्मचारी महात्माने ५९ वर्ष विशुद्ध चारित्राराधना करके-करवाके, ज्ञान-तपादिसे बाह्याभ्यन्तर जीवन पवित्र बनाकर, अंतमे चार आहारका त्यागकर वी.सं. २४०५ - आ शु. ८ को कालधर्म प्राप्त हुए। उनके सात शिष्य श्री अमृत विजयजी, श्री बुद्धि विजयजी, श्री प्रेमविजयजी, पं श्री गुलाब विजयजी, पं. श्री शुभविजयजी, श्री हीर विजयजी और श्री सिद्धि सुरीश्वरजी (बापजी)-सप्तर्षिकी भाँति तेजस्वी नक्षत्र थे। उन्ही शिष्योके हजारो शिष्य-शिष्याओका विशाल परिवार सांप्रत कालमे विचरकर विविध प्रकारसे जिनशासन सेवा-प्रभावना के कार्य कर रहा है।

श्री बुद्धि विजयजी (बूटेरायजी)---दृढ मनोबली, सत्य और स्पष्ट वक्ता, पंजाबमे सत्य-संविज्ञ मार्गके प्रथम प्रवर्तक, प्रभावक व्यक्तित्ववाले, पंजाब-राजस्थान और गुजरातमे जिनशासनकी शान चमकानेवाले, पंजाबी साधुओमे प्रथम पंक्तिके, धर्मग्रन्थोके गहन अभ्यासी, क्रियाकांड निपुण बूटेरायजीने लुधियाना नज़दीक दुलवा गांवके शीख परिवारके टेकसिंह और माताजी कर्मोदेके घर शुभ स्वप्न सूचित वी.स. २३३३ मे जन्म धारण किया। बचपन से ही धार्मिक वाचनका लगाव था। पूर्वजन्म संचित शुभ कर्मोके कारण उनको साधु बननेके भाव जागे और माताकी आज्ञा व अंतरकी आशिष लेकर 'सच्चा साधु' बनने हेतु सच्चे और अच्छे गुरुकी तलाश करनेके लिए अनेक साधुओंसे परिचय किया। आखिरकार २३५८मे स्थानकवासी साधु बने। संस्कृत और अर्धमागधीका ज्ञान सम्पादन करके शास्त्राध्ययन किया और लगातार पाँच साल तक बराबर परिशीलन किया। फल स्वरूप अंतरसे मूर्तिपूजाका विरोध नष्ट हो गया और अधिकाधिक चिंतन मननसे श्रद्धा बलवत्तर-दृढ़तर होती गई। इस पाँच वर्षके परिभ्रमणसे उन्हे दो शिष्य--मूलचंदजी और वृद्धिचंदजीकी प्राप्ति हुई। उन्हें लेकर वे गुजरातकी ओर पधारें और श्री मणिविजयजी के पास संवेगी दीक्षा अहमदाबादमें २३८२मे ग्रहण की; नाम रक्खा गया-बुद्धि विजय, लेकिन, वे बूटेरायजीके नामसे ही प्रसिद्ध हुए। गुरु-शिष्य त्रिपुटीने सत्य धर्मकी मशाल प्रज्वलित की और उसके प्रचार-प्रसारके लिए कटिबद्ध बने। उन्होंने यतियोंके विरुद्ध बुलंद आवाज़ उठायी और संवेगी मार्गकी विजय पताका दिग्गंतमे फहरायी। संवेगी साधुओको सम्माननीय स्थिति अर्पित की। पश्चात् स्वदेश-पंजाब जाकर छ साल सतत

विचरण करके, धर्मसभाओमें और व्यक्तिगत चर्चाओसे धार्मिक वादविवाद और मतभेद उपशांत किये। पुनः वी.सं २३९९में गुजरात पधारें।

तदनन्तर पू. आत्मारामजी महाराजने सोलह साधुओके साथ आपका शिष्यत्व स्वीकार किया, जो प्रसंग अपने आपमे ऐतिहासिक सिद्ध हुआ।

श्री बूटेरायजी म. जैसी अप्रतिम प्रतिभा और अनूठी व अद्वितीय प्रभावकता तत्कालीन समाजमे बेमिसाल थी। उन्होंने अपने शिष्य पू. श्री मूलचंदजी म. को गुजरात, पू. श्री वृद्धिचंद्रजी म. को सौराष्ट्र, पू. श्री आत्मारामजी म.को पंजाब और पू. श्री नीतिविजयजी म. को सुरतादि दक्षिणके प्रदेशोंका विचरण करवाके विशाल परिवार सम्पन्न करनेमे सफलता पायी। सत्यवीर महायोगी, साम्प्रत संघनायक और अपने चरित्र नायक श्री आत्मारामजी म.के प्राणाधार वी.सं. २४०८मे कालधर्म प्राप्त हुए।

निष्कर्ष---इस प्रकार शाश्वत जैन धर्मके शाश्वत सिद्धान्तोंके प्ररूपको और प्रचारकों-प्रसारको में चौबीस तीर्थंकरोंकी परम्परामे अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी और उनकी परम्परामे (पट्टावली) पट्ट परम्पराके निर्देशानुसार परम पूज्य न्यायाम्भोनिधि, सत्यकी साक्षात् प्रतिमूर्ति, विद्वद्वर्य श्रीमद्विजयानंद सुरीश्वरजी (श्री आत्मारामजी) महाराज साहबजीका स्थान कहाँ-कैसा-कितना महान है उसका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय प्राप्त किया। अब आपका जीवन-चरित्र प्रकाशित करनेकी ओर अग्रसर होंगे।